श्री अरविन्द

साहित्य दर्शन

डा० श्याम बहादुर वर्मा

भूमिका

श्री अरविन्द के महान व्यक्तित्व की एक बड़ी विशेषता है उनका गंभीर चिंतन तथा गंभीर लेखन। आधुनिक युग की विश्व-विभूतियों में श्री अरविन्द को अपने विशाल एवं साथ ही गंभीरतम कहे जा सकने योग्य वाङ्मय के कारण बुद्धि-जीवियों में भी शीर्षस्थान प्राप्त हुआ है। उनके महान जीवनीकार श्री पुराणी ने उनके वाङ्मय के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा था "उनकी रचनाएं, एक प्रकार से, उनके मानसिक व्यक्तित्व की सर्वोत्तम प्रतिनिधि है। उनकी प्रतिभा का सर्वतो-मुखी स्वरूप, उनकी बुद्धि की भेदन-शक्ति, उनकी असाधारण अभिव्यक्ति-क्षमता, उनकी उत्कट निष्ठा, उनकी उद्देश्य-एकांतिकता – इन सबका सहज अनुभव उनकी कृतियों के किसी भी गंभीर पाठक को होगा। उसे यह भी लग सकता है कि श्री अरविन्द असीमित को सीमित में ले आये हैं।"

यह देखकर आश्चर्य होता है कि श्री अरविन्द के वाङ्मय मेंधर्म, योग, दर्शन, मनोविज्ञान, शिक्षा, संस्कृति, राष्ट्रीय व विश्व-राजनीति, भारत व विश्व इतिहास, अंग्रेजी-साहित्य की समीक्षा, काव्य, नाटक, भाषाविज्ञान प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्या इत्यादि की अद्भुत सामग्री है। उसमें मनोरम भाव भी हैं, गंभीर विचार भी हैं। ऐसे-ऐसे प्रेरक विचार हैं जिनसे नवीन व सशक्त भारत का तथा अभिनव व दिव्य विश्व का निर्माण संभव है। वे किसी काल्पनिक उड़ान भरने वाले दार्श-निक या साहित्यकार की रचनाएं नहीं हैं अपितु एक सक्रिय जीवन के ७८ वर्षों के लौकिक और दिव्य अमूल्य अनुभव-कोष हैं, उपलब्धि-परिचय हैं, मार्गदर्शक संकेत हैं।

किंतु श्री अरविन्द-साहित्य प्रायः अंग्रेजी में है और यद्यपि अब धीरे-धीरे सभी गद्य-कृतियों का अनुवाद क्रमशः सुलभ होता जा रहा है किंतु विषयों की जटिलता तथा हिंदी अनुवादों की दुरूहता ने पाठकों का साहस प्रायः तोड़ा ही है। कई बार तो अत्यधिक श्रद्धा से अरविन्द-साहित्य के अध्ययन में जुटने वाले व्यक्तियों को भी निराशा ही हाथ लगी है। श्री अरविन्द स्वयं भी इस कठिनाई से परिचित थे। उन्होंने स्वयं कहा था कि उनके साहित्य को समझने के लिए दो बातों की बड़ी आवश्यकता है—प्रथमतः अंग्रेजी भाषा का बहुत अच्छा ज्ञान और दूसरा अभि-

व्यक्त विषय में रुचि और उसका प्रारंभिक परिचय'। उन्होंने यह भी कहा था कि 'आर्य' पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित उनकी सभी सामग्री वस्तुतः दूसरों के लिए नहीं, स्वयं के लिए लिखी गई थी। 'स्वान्तःसुखाय' लिखने की तुलसी-भावना प्रायः प्रत्येक सच्चे लेखक की भावना होती ही है। श्री अरविन्द ने भी अपने समाधान के लिए; अपने मन-मस्तिष्क का बोझा कम करने के लिए लिखा अवश्य, किंतु विश्व-भर के बौद्धिकों के लिए उसमें अमूल्य रत्न दिखाई पड़े और इस प्रकार श्री अरविन्द-साहित्य विश्व-साहित्य का शृंगार बन गया।

यद्यपि श्री अरविन्द के विचारों में अनेक ऐसे हैं जिन तक पहुँच पाना सामान्य जन के लिए संभव नहीं है परंतु इसीलिए श्री अरविन्द-साहित्य से दूर रहना भी तो संभव नहीं है। गौरीशंकर के उच्च और चमचमाते शिखर का अपना आकर्षण होता है। उस तक जोखिम उठाकर भी पहुंचने की तीव्र लालसा मानव-मन के लिए स्वाभाविक है और श्री अरविन्द के भक्तों व प्रशंसकों में से अनेक ने उनके कठिन साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है तथा उसका मंथन कर नवनीत को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत भी किया है। इन श्रद्धेय महात्माओं— श्री पुराणी, डा० इन्द्रसेन, प्रोफेसर आयंगर, सिद्ध पुरुष नीरदवरन इत्यादि—ने जो कुछ अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया है वह अत्यंत उपादेय है, अत्यंत मूल्यवान है। किंतु, फिर भी एक अभाव इस बात का अनुभव किया जाता रहा है कि श्री अरविन्द की सभी कृतियों का पृथक-पृथक संक्षिप्त परिचय देने वाला कोई ग्रन्थ अभी तक हिंदी में ही नहीं, अंग्रेजी में भी उपलब्ध नहीं है। प्रस्तुत कृति इसी अभाव को पूरा करने की दिशा में एक विनम्र प्रयास है। इसका उद्देश्य श्री अरविन्द के ग्रन्थों में सामान्य पाठक की रुचि जगाना है जिससे वह मूल ग्रन्थों के अध्ययन में साहसपूर्वक प्रवृत्त हो सके।

अवश्य ही, मेरी अपनी सीमाएं इस कृति की भी सीमाएं हैं। साथ ही, श्री अरविन्द वाङ्मय का नवनीत प्रस्तुत करने का दंभ भी लेखक का नहीं है। उनकी अनेक नेक कृतियों का एक परिचयात्मक विवरण ही यहाँ दिया गया है, न विवेचन है, न तुलना है, न समीक्षा। ऐसे गंभीर कार्य के लिए पहले से ही अनेक विद्वानों ने प्रयास किया है —उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त डा० रामनाथ शर्मा, डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा इत्यादि नामों का भी इस दृष्टि से असाधारण महत्त्व है। अतः प्रस्तुत कृति का महत्त्व केवल उन पाठकों के लिए है जो श्री अरविन्द की कृतियों का एक दृष्टि में परिचय चाहते हैं जिससे वह अपनी आवश्यकतानुसार पसंद की कृतियों को चुन सकें। और लेखक का परिश्रम सफल होगा यदि इससे इस दिशा में लाभ उठाया जा सके।

सुधी पाठक यह सहज ही देख सकेंगे कि श्री अरविन्द की कृतियाँ गंभीर ज्ञान के महासागर में पाठक को साथ ले चलने के लिए असाधारण करुणा का भी परिचय स्थान-स्थान पर देती हैं। वेद व उपनिषदों की चेतना को आधुनिक युग

की भाषा में अभिव्यक्त करने वाली ये कृतियाँ वस्तुतः वही सन्देश देती हैं जो हमारे हृदय के हृदय में अनुभव तो हम भी करते हैं किंतु उसे पूर्णता से देखने और कुशलता से अभिव्यक्त करने की क्षमता का प्रायः स्वयं में अभाव पाते हैं। इस परिचयात्मक विवरण के उपरान्त मूल ग्रन्थों तक पहुंचना ही पाठक का लक्ष्य होना चाहिए क्योंकि श्री अरविन्द के स्वाध्याय का स्थान इस कृति का अध्ययन यहीं ले सकता।

प्रस्तुत कृति को तैयार करने में श्री अरविन्द के साधक भक्तों तथा अन्य अनेक विद्वानों की कृतियों से जो सहायता मुझे मिली है उसके लिए मैं उनका अत्यधिक ऋणी हूँ। अनुशीलन पुस्तकालय (बरेली), डी ए० वी० सांध्य कालिज पुस्तकालय (दिल्ली) हरदयाल पुस्तकालय दिल्ली से सहायता के लिए मैं उनके अधिकारियों के प्रति तथा श्रीमती इन्दु, कु० अनीता सक्सेना, श्रीमती आशाशर्मा, भाई धर्मेन्द्र वर्मा आदि की बहुविध सहायता के लिए मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ।

श्यामबहादुर वर्मा

क्रम

१.	दिव्य जीवन	६
२.	योग-समन्वय	२६
३.	भागवत मुहूर्त्त	३४
४.	योग और उसका उद्देश्य	३७
५.	विकास	४०
६.	इस विश्व की पहेली	४४
७.	माता	५६
८.	विचारमाला और सूत्रावली	५६
९.	सावित्री: एक आख्यान और एक प्रतीक	६२
१०.	श्री अरविन्द-साहित्य	७५
११.	वेद-रहस्य	८७
१२.	रहस्यमय अग्नि के सूक्त	९५
१३.	उपनिषद्-दर्शन	९६
१४.	उपनिपदों के अंग्रेज़ी अनुवाद तथा उपनिपद सम्बन्धी कुछ निवन्ध	१००
१५.	गीता-प्रवंध	१०३
१६.	भारतीय संस्कृति के आधार	१११
१७.	धर्म और जातीयता	१३०
१८.	भारत का मस्तिष्क	१३३
१९.	वंकिय-तिलक-दयानंद	१३६
२०.	भारत में पुनर्जागरण	१४१
२१.	मानव-चक्र	१४९
२२.	मानव-एकता का आदर्श	१५७
२३.	युद्ध और आत्मनिर्णय	१६४
२४.	भावी कविता	१६८
२५.	व्यास और वाल्मीकि	१७२
२६.	कालिदास	१७३
२७.	विविधि कृतियां	१७८
२८.	निष्कर्प	१८३

१. दिव्य जीवन

श्री अरविन्द कृत 'दिव्य जीवन' (दी लाइफ़ डिवाइन) तत्त्वदर्शन का एक अद्भुत ग्रन्थ है। स्वयं श्री अरविन्द के शब्दों में यह एक 'मान्युमेंटल' कृति है। 'मान्युमेंटल' कहने से श्री अरविन्द का तात्पर्य स्मारकीय, चिरस्थायी, महत्त्वपूर्ण तथा विशालता से मिली-जुली धारणा को व्यक्त करना था। इसमें निहित तत्त्व-दर्शन का (अत्यन्त गम्भीर तथा मौलिक कृति होने के कारण) एक आतंक-सा छाया रहा है और बहुत कम भाग्यशाली होंगे जिन्होंने इस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़ डाला हो तथा उस पर मनन करने का धैर्य फिर भी बच गया हो। यह भारत का सौभाग्य होगा कि वह इस महान ग्रंथ के भाव को आतमसात करे तथा श्री अरविन्द-दर्शन को युगदर्शन के रूप में विश्व में प्रतिष्ठित करने का सांस्कृतिक कर्तव्य पूरा करे। हो सकता है कि विश्व में छाई हुई निराशा का बौद्धिक समाधान महामानव अरविन्द की इसी कृति में हो, जबकि विश्व के बुद्धिजीवी इसे अपने सीमित दृष्टिकोण से अन्यत्र खोज रहे हैं। किन्तु इसके लिए विश्व से पहले तो भारत में ही इसको गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करने की आवश्यकता है।

निस्सन्देह श्री अरविन्द का साहित्य (यूरोपीय साहित्य, वैदिक तथा अन्य भारतीय वाङ्मय के असीमित स्वाध्याय व मनन तथा अनन्त-सी प्रतीत होने वाली तत्त्वदर्शी प्रज्ञा के कारण) औसत पाठक को बोझिल लगता है। अरविन्द-साहित्य के हिन्दी अनुवादकों ने इस बोझिलता को अत्यधिक बढ़ाया ही है। साधारण हिन्दी पाठक की प्रतिक्रिया यह है कि अंग्रेज़ी मूल समझना सरल है, हिन्दी अनुवाद समझना कठिनतम अर्थात् असम्भव। श्री अरविन्द की भाषा का स्वाभाविक प्रवाह हिन्दी के अनुवादक ला सकें यह बड़ी बात होगी। रामकथा के लिए 'तुलसीदास' ने जो किया, अरविन्द-साहित्य के लिए भी वैसा करने वाला कोई चाहिए। आशा की जा सकती है कि कभी न कभी श्री अरविन्द के विद्वान भक्तों में से कोई यह कार्य करेगा।

इस विशाल कृति में दो भाग हैं—प्रथम है 'सर्वव्यापी सत्तत्त्व और विश्व' और द्वितीय के दो खण्ड हैं—'अनन्तचित् तथा अज्ञान' और 'ज्ञान तथा आध्यात्मिक विकास'। प्रथम में २८ अध्याय हैं और द्वितीय के प्रत्येक खण्ड में १४

अध्याय। इस प्रकार कुल ५६ अध्यायों में १२७२ पृष्ठों की सामग्री संजोई गई है।

प्रथम भाग में अध्यायों के शीर्षक क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. मानव-आकांक्षा
२. दो निषेध : जड़वादी का प्रतिषेध
३. दो निषेध : संन्यासी का अस्वीकार
४. सर्वव्यापी परमार्थ तत्त्व
५. व्यक्ति का भाग्य
६. विश्व में मानव
७. अहंकार तथा विविध द्वन्द्व
८. वेदान्ती ज्ञान के साधन
९. शुद्ध सत्
१०. चित् शक्ति
११. सत्ता का आनन्द : समस्या
१२. सत्ता का आनन्द : समाधान
१३. दिव्य माया
१४. स्रष्टा के रूप में अतिमन
१५. परम ऋत-चित्
१६. अतिमन की तीन स्थितियां
१७. दिव्य अन्तरात्मा
१८. मन और अतिमन
१९. प्राण
२०. मृत्यु, कामना और असमर्थता
२१. प्राण का आरोहण
२२. प्राण की समस्या
२३. मानव में दोहरी अन्तरात्मा
२४. जड़तत्त्व
२५. जड़तत्त्व की ग्रन्थि
२६. द्रव्य की आरोही श्रेणी
२७. सत्ता का सप्तगुण सूत्र
२८. अतिमन, मन और अधिमन माया

द्वितीय भाग के प्रथम खण्ड में अध्यायों का क्रम इस प्रकार है—

१. अनिर्दिष्ट, विश्वगत निर्दिष्ट-समूह तथा अनिर्देश्य
२. ब्रह्म, पुरुष, ईश्वर-माया, प्रकृति, शक्ति

३. सनातन तत्त्व और जीव
४. दिव्य और अदिव्य
५. विश्वीय भ्रम, मन, स्वप्न और दृष्टिभ्रम
६. सत् तत्त्व और विश्वीय भ्रम
७. ज्ञान और अज्ञान
८. स्मृति, अवचेतना और अज्ञान
९. स्मृति, अहंभाव और स्व का अनुभव
१०. तादात्म्य द्वारा ज्ञान और भेदात्मक ज्ञान
११. अज्ञान की सीमाएं
१२. अज्ञान का मूल
१३. चित्-शक्ति की अनन्य एकाग्रता तथा अज्ञान
१४. असत्य, विपर्यय, अधर्म और पाप का उद्भव और प्रतिकार

द्वितीय भाग के द्वितीय खण्ड में अध्यायों का क्रम निम्नलिखित है—

१५. ब्रह्म और पूर्ण ज्ञान
१६. पूर्ण ज्ञान और जीवन-लक्ष्य : अस्तित्व के चार सिद्धान्त
१७. ज्ञान की ओर प्रगति—परमेश्वर, मनुष्य की प्रकृति
१८. विकास-प्रक्रिया—आरोहण और सम्पूर्णीकरण
१९. सप्तगुण अज्ञान से निकलकर सप्तगुण ज्ञान की ओर
२०. पुनर्जन्म का तत्त्वज्ञान
२१. लोकों का क्रम
२२. पुनर्जन्म तथा अन्य लोक, कर्म, आत्मा और अमरत्व
२३. मानव और विकास
२४. आध्यात्मिक मानव का विकास
२५. त्रिविध रूपान्तर
२६. अतिमानस की ओर आरोहण
२७. विज्ञानमय पुरुष
२८. दिव्य जीवन

मानव आकांक्षा

श्री अरविन्द ने 'दिव्य जीवन' के प्रारम्भ में यह बताया है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रबुद्ध मानव एक ऐसे विचार से युक्त रहा है जो उसके सभी विचारों में सर्वोच्च भी है तथा अनिवार्य व चरम भी। संशयवादी युगों में उसे दूर करने की पूरी चेष्टाओं के पश्चात भी वह समाप्त नहीं हो सका। यह विचार वस्तुतः एक आकांक्षा के रूप का है जो दिव्यत्व, पूर्णत्व, सत्य की खोज, आनन्द की खोज,

अमरत्व की भावना इत्यादि में प्रकट होती रही है। आज भी मानव वाह्य प्रकृति पर महत्त्वपूर्ण विजयों के पश्चात भी संतुष्ट न हो पाने के कारण पुनः 'ईश्वर, ज्योति, मुक्ति व अमरता' की अपनी प्राचीनतम आकांक्षाओं की ओर लौटने को तैयार दिखाई देता है।

मानव जाति के दिव्यत्व इत्यादि आदर्शों को सामान्य अनुभव से विरुद्ध देख कर सामान्य वुद्धि यही कहती है कि ये आदर्श मिथ्या हैं। किन्तु जीवन में जव हम प्रकृति को सर्वत्र विरोधों का सामंजस्य करते हुए देखते हैं तथा गम्भीर चिन्तन करते हैं तो इन आदर्शों की सत्यता समझ में आने लगती है। उदाहरणार्थ सक्रिय प्राण की निष्क्रिय जड़तत्त्व (देह) से संगति तो स्पष्ट ही दिखाई देती है। सचेतन मन व सचेतन इच्छा की प्राण व जड़तत्त्व से संगति भी प्रकृति के चमत्कारी सामंजस्य का उदाहरण है। पुनः, जड़तत्त्व से प्राण का 'विकास' होना विज्ञान वताता है। "परन्तु विकास ऐसा शव्द है जो घटना का केवल कथन करता है, उसकी व्याख्या नहीं करता। इसे समझने के लिए हमें वेदान्त का यह समाधान स्वीकार करना होगा कि पहले से ही प्राण जड़तत्त्व में और मन, प्राण में अन्तर्लीन है, कारण सारतः जड़तत्त्व, आवृत्त प्राण का रूप है और प्राण, आवृत्त चेतना का रूप है, नहीं तो जड़ तत्त्वों से प्राण का विकास या सप्राण रूपों से मन का विकास कैसे हो सकता है?" तव यह विकास 'मन' तक आकर ही रुक जाए यह असंभव है। 'मन' से वढ़कर 'अतिमन' अथवा 'मानव' से वढ़कर 'अतिमानव' के विकास की यह प्रकृति की योजना ही मानव-मन में उस चिर आकांक्षा में व्यक्त होती रही है जो दिव्यत्व की आकांक्षा है। निस्सन्देह यह एक कठिन कार्य है कि मानव अपने भीतर भगवान को अभिव्यक्त करे अर्थात पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना हो। किन्तु इसीलिए उसे असंभव मानना या उससे पलायन करना श्री अरविन्द को अनुचित लगता है। वस्तुतः दिव्य जीवन की आकांक्षा आत्मा के आत्म-अनावरण की क्रम-परम्परा में स्वाभाविक तथा अवश्यम्भावी स्थिति है।

दो निषेध—जड़वादी का प्रतिषेध तथा संन्यासी का अस्वीकार

श्री अरविन्द जड़तत्त्व और व्रह्म के विरोध को अस्वीकार करते हैं और जड़वादी द्वारा 'व्रह्म' के प्रतिषेध तथ संन्यासी द्वारा जगत के मिथ्यात्व दोनों को एकांगी सत्य कहते हैं। श्री अरविन्द अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक जड़वाद का विवेचन करते है और वताते हैं कि जड़तत्त्व भी सत्य है क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। जड़वाद की तर्कवुद्धिवादी प्रवृत्ति ने मानवता की वड़ी सेवा की है क्योंकि उसने आध्यात्मिक अन्वेषण से प्राप्त सत्यों के चारों ओर एकत्रित अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों को वड़ी निर्ममता से तार्किक विश्लेपणपूर्वक दूर किया है। श्री अरविन्द अत्यन्त सुन्दर शव्दों में जड़वादी दृष्टि का महत्त्व स्थापित करते हैं—"अतः यह आवश्यक है कि प्रगतिशील

ज्ञान का आधार वही बुद्धि होनी चाहिए, जो स्वच्छ, शुद्ध और अनुशासित हो। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि इस बुद्धि को कभी-कभी इन्द्रियग्राह्य तथ्य के अर्थात् भौतिक जगत की ठोस यथार्थताओं के नियन्त्रण में आकर अपनी भूलों का संशोधन कर लेना चाहिए। पृथ्वी के पुत्र के लिए, अतिभौतिक ज्ञान को खोजते हुए भी पृथ्वी का स्पर्श सदा नया बल देने वाला है। यहां तक कहा जा सकता है कि अतिभौतिक पर पूर्ण प्रभुत्व तो वस्तुतः तभी प्राप्त किया जा सकता है (यद्यपि उसकी ऊंचाइयों पर तो हम सदैव पहुंच सकते हैं) जब हम भौतिक पर दृढ़ता से पैर जमाए रहें।"

नास्तिकता के युग की समाप्ति पर श्री अरविन्द यह चेतावनी देते हैं कि यह सावधानी रखनी है कि नास्तिकवाद की बहुमूल्य देन की उपेक्षा न हो जाए। जिसे 'त्रुटि' कहा जाता है वह वस्तुतः "एक अर्द्धसत्य है जो अपनी परिसीमाओं के कारण ठोकर खाती है।"

श्री अरविन्द के अनुसार "प्रत्येक ज्ञान का अन्तिम सत्य एक प्रकार का अज्ञेयवाद ही है" किंतु ब्रह्म 'अज्ञात' है तो भी 'अज्ञेय' नहीं है। "परंतु जब हम उसे अज्ञेय कहते हैं तो इससे हमारा अभिप्राय वास्तव में यह होता है कि वह हमारे मन और वाणी की पकड़ में नहीं आता, कारण ये ऐसे उपकरण हैं जिनकी क्रिया सर्वदा भेद-भाव द्वारा है तथा अभिव्यक्ति परिभाषा द्वारा होती है। किंतु यदि ब्रह्म विचार से ज्ञेय नहीं है तो भी वह चेतना के उच्चतम प्रयत्न से प्राप्य है। और श्री अरविन्द के अनुसार एक प्रकार का ऐसा ज्ञान भी होता है जो तादात्म्य रूप है और जिससे एक विशेष अर्थ में उसे जान सकते हैं।" और इस उच्च ज्ञान को पाने के लिए जड़वादी विचारधारा से ऊपर उठना अनिवार्य है।

वस्तुतः सम्पूर्ण जड़तत्त्व ब्रह्म का ही एक रूप है। मन, प्राण और जड़तत्त्व वस्तुतः एक मूल शक्ति के ही तीन रूप हैं। "जो शक्ति विश्व की सृष्टि करती है, वह एक 'इच्छा' ही हो सकती है और इच्छा क्या है? चेतना ही जो स्वयं को किसी विशेष परिणाम में नियुक्त करती है।" और यह कार्य व परिणाम क्या हैं? मात्र "चेतना का रूप में आत्म-अवरोहण और रूप से आत्मा-आरोहण जिससे इसके द्वारा रचित विश्व में कोई बड़ी संभावना साकार हो सके।" तथा मानव में यह इच्छा क्या है? "अनन्त जीवन, असीम ज्ञान तथा निर्बन्ध शक्ति" की इच्छा। विज्ञान भी इसी इच्छा से प्रेरित होकर भौतिक विजयों में व्यस्त है। असंभव कुछ नहीं है, यह लगने लगा है और अवश्य ही मानव जो कुछ सोचता है, वह सब संभव है क्योंकि मानव-जाति की चेतना अन्ततः उसके लिए मार्ग खोज ही निकालती है। श्री अरविन्द बताते हैं कि मानव जाति की इच्छा की पूर्ति के लिए मानव-व्यक्ति यंत्र मात्र हैं और मानव-जाति की इच्छा वस्तुतः "एक अति-चेतन महाशक्ति है जो व्यष्टि का केन्द्र और यंत्र के रूप में उपयोग करती है तथा

मानव-समष्टि का अवस्था व क्षेत्र के रूप में।" इससे मानव का ईश्वरत्व स्वयं-सिद्ध है। आधुनिक विश्व भी उसी विशाल महाशक्ति से प्रेरित होकर उसी की इच्छापूर्ति के लिए निरन्तर गतिशील है।

इस प्रकार श्री अरविन्द भौतिक ज्ञान की उपयोगिता स्वीकार करते हुए, उसकी सीमा बताते हैं और तब वे संन्यासी द्वारा जगत के अस्वीकार का विवेचन करने में प्रवृत्त होते हैं। टेलीपैथी इत्यादि के द्वारा यह तो सिद्ध हो ही गया है कि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र से परे जो अतिभौतिक ज्ञान है उसकी उपेक्षा करना बुद्धि-मत्ता नहीं है। आज वैश्व चेतना की संभावना को आधुनिक विज्ञान स्वीकार करने को बाध्य प्रतीत होता है किन्तु "प्राच्य मनोविज्ञान में इस चेतना को सदैव यथार्थ तत्त्व और हमारी आन्तरिक प्रगति का लक्ष्य माना जाता रहा है।" उसे प्राप्त करने का मार्ग भी बताया गया है—अहं-भाव-जन्य सीमाओं का अतिक्रमण तथा आत्मज्ञान को ग्रहण करना व अन्ततः उससे तादात्म्य करना। अहं-भाव में रहना छोड़कर उसे वैश्व चेतना में प्रवेश करने पर ही यह ज्ञात होता है कि "जड़-तत्त्व अखण्ड सत्ता है और विभिन्न शरीर उसके रूप हैं"। यही नहीं, "उसी प्रकार मन व प्राण भी वही सत्ता है," यह भी तब अनुभव होता है। और उसके पश्चात मन से अतिमन तक की सभी भूमिकाओं को पार करके उस अतिमन को भी जाना जा सकता है "जिसका विश्वगत कार्य ही सभी निम्नतर क्रियाओं की कुंजी है"। "अतः जिस मनुष्य ने उस वैश्व चेतना के साथ सम्पर्क स्थापित किया है अथवा जो उसमें निवास करता है उसके लिए वह यथार्थ है और जड़जगत की अपेक्षा अधिक यथार्थ है। वह स्वरूपतः भी यथार्थ है और अपने परिणामों व कार्यों में भी यथार्थ है।" श्री अरविन्द की दृष्टि में "जगत यथार्थ है क्योंकि वह केवल चेतना में अस्तित्ववान है; क्योंकि वह अपनी रचयिता सत्ता से एकरूप चेतन शक्ति है"। किन्तु वह ब्रह्म विश्व मात्र नहीं है, उससे अधिक है और "जगत उसके कारण अस्तित्व रखता है, वह जगत के कारण अस्तित्वशील नहीं है"। विश्व-चेतना से ऊपर विश्वातीत चेतना है जो वेदांत का 'शांत ब्रह्म' है। संन्यासी जब जगत को अस्वीकार करता है तो उसी प्रपंचोपशम, एकमेवाद्वितीय शांत ब्रह्म की दृष्टि से जगत को देखकर। निस्सन्देह संन्यासवाद ने जड़वाद से भी अधिक लोक-सेवा की है तथापि आज "हम दोनों की अपेक्षा किसी विशालतर और पूर्णतर सिद्धान्त की खोज कर रहे हैं। हम देखते हैं कि भारत के संन्यास-वादी आदर्श में वेदान्त के 'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक और अद्वितीय है) महा-वाक्य का इसके समान ही महत्त्वपूर्ण दूसरे महावाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) के प्रकाश में पर्याप्त रूप में अध्ययन नहीं किया गया है।...परमात्मा का आत्मा में जो सत्य निहित है उसे जितनी अच्छी तरह समझा गया है, उतनी अच्छी तरह जड़तत्त्व में निहित अर्थ को नहीं।"

सर्वव्यापी ब्रह्म

श्री अरविन्द ने अत्यन्त सरस विधि से यह प्रतिपादित किया है कि वैश्व चेतना में प्रवेश करने पर जड़तत्त्व व आत्मा दोनों की यथार्थता तो सिद्ध हो ही जाती है, दोनों मूलतः एक ही तत्त्व 'ब्रह्म' के रूप मात्र हैं यह भी सिद्ध हो जाता है। तब मन "एकता के सत्य और अनेकता के सत्य" दोनों का साक्षात्कार करता है और उनका दिव्य सामंजस्य बैठा पाता है। विश्व-चेतना में प्रविष्ट या स्थित मन ही यह समझ पाता है कि ब्रह्म की "शान्तता जगत का परित्याग नहीं करती, उसे धारण करती है, सीमित मन को शान्त ब्रह्म तथा जगत में असम्बद्धता का ही भ्रम होता है क्योंकि वह "शाब्दिक भेदों पर इस प्रकार अनुराग के साथ विश्वास करता है मानो ये भेद चरम सत्यों को पूर्णतया प्रकट करते हों"। श्री अरविन्द आत्मा और अनात्मा के भेद की यथार्थता को स्वीकार नहीं करते। वे इसी को 'सच्चा अद्वैतवाद' कहते हैं। उनके शब्दों में "यदि यह सत्य है कि केवल आत्मा का अस्तित्व है तो यह भी सत्य होना चाहिए कि सब कुछ आत्मा है"। उच्चतम अनुभव से ज्ञात होता है कि यह परमार्थ तत्त्व "चेतन सत् ही नहीं अपितु परा-प्रज्ञा, पराशक्ति और स्वयं सत् आनन्द भी है, और यह विश्वातीत कोई अन्य अज्ञेय सत्, कोई पूर्ण अनिर्वाच्य आनन्द है"। इसी आधार पर जगत के सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का स्वरूप भी ब्रह्ममय ही सिद्ध होता है किन्तु "जब तक हम द्वन्द्वों के दबाव के अधीन कार्य करते हैं तब तक निस्सन्देह यह दृष्टि एक श्रद्धा पर ही आधारित रहेगी किन्तु यह श्रद्धा ऐसी है कि उच्चतम तर्कबुद्धि तथा विशालतम और धीरतम चिन्तन भी उसका प्रतिषेध नहीं करते, अपितु समर्थन करते हैं।"

व्यक्ति का भाग्य

श्री अरविन्द व्यक्ति, विश्व और विश्वातीत ब्रह्म का सच्चा सम्बन्ध बताते हैं—"विश्वातीत ब्रह्म विश्व को परिग्रहण किए है, उसके साथ एकरूप है और उसका बहिष्कार नहीं करता; वैसे ही विश्व भी व्यक्ति का परिग्रहण किए है, उसके साथ तादात्म्य रखता है और उसे बहिष्कृत नहीं करता। व्यक्ति समग्र विश्व-चेतना का एक केन्द्र है; विश्व एक नाम और रूप है जो नामरहित और रूपरहित ब्रह्म की समग्र सर्वव्यापकता द्वारा व्याप्त है।" और इस कारण "जीवन में ईश्वर को अभिव्यक्त करना ही मानव का मानवत्व है। वह पशु-जीवन व उसकी क्रियाओं से यात्रा प्रारम्भ करता है किन्तु दिव्य जीवन ही उसका लक्ष्य है।" और "जीवात्मा की मुक्ति दिव्य क्रिया का मूल स्वर है, यही प्राथमिक दिव्य आवश्यकता है तथा वह धुरी है जिस पर अन्य सब कुछ गति करता है।" श्री अरविन्द यहां पर एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं कि "विश्वगत बहुत्व के साथ

एकता प्राप्त किए विना मुक्त आत्मा की परात्पर ब्रह्म से एकता अधूरी है।" यही अविद्या और विद्या अथवा असंभूति और संभूति दोनों के सम्यक उपयोग का मार्ग है जिसका निर्देश ईशोपनिषद में किया गया है।

विश्व में मानव

श्री अरविन्द के विचार-दर्शन में विश्व न तो भ्रम है, न कोई निरुद्देश्य रचना। उसका एक अर्थ है, एक लक्ष्य है और वह है परमार्थ तत्त्व ब्रह्म को क्रमशः अधिकाधिक प्रकाशित करना। विश्वसत्ता का नियंत्रक पुरुष 'ब्रह्म' जो विश्वव्यापी एवं विश्वाधार है किन्तु साथ ही विश्वातीत भी, "व्यक्ति में स्वयं को अनावृत्त करता है।" और "वह ज्योतिर्मय प्रकटीकरण ऊषा है जिसकी पूर्वज आर्यों ने उपासना की थी" और किसकी सर्वोच्च अवस्था ही "विश्वव्यापी विष्णु का उच्चतम पद है" जिसका वेद में वर्णन है। वस्तुतः "दिव्य जीवन में आरोहण ही मानव-यात्रा है, सब कर्मों का कर्म है, स्वीकृति-योग्य यज्ञ है"। चाहे मानव जाने या न जाने, "सच्चिदानंद ही वह अज्ञात, सर्वव्यापी, अपरिहार्य तत्त्व है जिसकी सनातन खोज मानव-चेतना कर रही है"। यह सहज ही समझा जा सकता है कि "विश्व और व्यक्ति यही दो प्रधान दृश्यरूप हैं जिनमें अज्ञेय अवतीर्ण होता है और जिनके द्वारा उसे प्राप्त करना होगा" और "विश्व व व्यक्ति दोनों को अपने आरोहण में एक-दूसरे की आवश्यकता है। · सचेतन व्यक्ति में प्रकृति, पुरुष का दर्शन करने के लिए पीछे की ओर मुड़ती है···दूसरी ओर विश्व के द्वारा ही व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रेरित होता है"। मानव का महत्त्व इसी में है कि वही (न तो कोई अन्य पशु आदि न देवता) परमात्मा के अवतरण की उच्चतम सामर्थ्य रखता है। "यह मानव ही प्राचीन ऋषियों की भाषा में मनु अर्थात् मननशील, 'मनोमय पुरुष' है। वह केवल उच्चतर स्तनपायी जीव नहीं है अपितु विचारशील आत्मा है जिसने पशु-शरीर को अपना आधार बनाया हुआ है।"

अहंकार और द्वन्द्व

श्री अरविन्द के विचार-दर्शन में सब कुछ सच्चिदानन्द ही है और इस कारण उसका निषेध भी तथा मृत्यु, दुःख, अशुभ आदि भी सच्चिदानन्द ही हैं। सच्चिदानंद ब्रह्म के लिए विरोधी द्वन्द्वों का "एक ऐसे रूप में तत्त्वान्तरण करती है जो इनसे उत्कृष्ट है तथा जो उनके विरोधों को मिटा देती है"। स्थूल इन्द्रियों में विश्व का जैसा स्वरूप दिखाई पड़ता है, चेतना की उच्चतर अवस्थाओं में पहुंचने पर वैसा ही नहीं रह जाता। "चेतना ऐसी की अवस्थाएं हैं जिनमें मृत्यु, अमर जीवन का केवल एक परिवर्तित रूप है.···अशुभ, शुभ द्वारा अपनी परिपूर्णता की परिक्रमा है और यह केवल अमूर्त धारणा मात्र में नहीं अपितु प्रत्यक्ष दर्शन और निरन्तर व

ठोस अनुभव में" । किन्तु सामान्यतया इन्द्रियों तथा द्वन्द्वात्मक भाव वाले मन के द्वारा हमें प्राप्त व्यावहारिक मूल्यों की, विशालतर सामंजस्य प्राप्त होने तक, अपनी उपयोगिता है ही।

सामान्य मानव से ऐसी ही भूल यह भी होती है कि वह विश्व सत्ता का केन्द्र अहंकार को मानता है तथा "अहंकार की द्वन्द्वमयी दृष्टि से ईश्वर और उसके कार्यो का निर्णय" करता है। "मनुष्य का प्रथानुयायी मन केवल सोपाधिक, परिसीमित और पराधीन ज्ञान, सुख, शक्ति और शुभ को ही संभव मानता है"। और यद्यपि "वस्तुतः उसका भगवान और स्वर्ग का स्वप्न वस्तुतः अपने परिपूर्णत्व का ही स्वप्न है तथापि जिस प्रकार उसके पूर्वज वानर के लिए यह विश्वास करना कठिन था कि वही भविष्य में मनुष्य वन जाएगा, उसी प्रकार वर्तमानकालीन मनुष्य को भी यह स्वीकार करना कठिन होता है कि उस दिव्य अवस्था को पृथ्वी पर प्राप्त कर लेना उसके जीवन का चरम लक्ष्य है"। वास्तव में यह अहंकार के कारण ही है कि कुछ घटनाओं को दुःख, अशुभ आदि मान लिया जाता है जवकि वे आनंदपूर्ण, शुभ इत्यादि हैं। यदि व्यक्ति विश्व-चेतना तथा विश्वातीत चेतना में भाग ले तो द्वन्द्वों का यथार्थ मूल्य सामने आ जाता है।

वेदान्ती ज्ञान के साधन

श्री अरविन्द ने जगत में सच्चिदानन्द के कार्य तथा सच्चिदानंद व अहंकार के सम्वन्धों की मीमांसा करते हुए शुद्ध तर्क-बुद्धि का महत्त्व बताया है। इसी से हम भौतिक ज्ञान से वढ़कर तात्त्विक ज्ञान तक आ जाते हैं। इसके द्वारा हम इन्द्रियगत साक्षात्कारों से वढ़कर वौद्धिक साक्षात्कारों तक पहुंचते हैं। किन्तु मानव-विकास के लिए यह भी पर्याप्त न होने से हम मानस-साक्षात्कार तक पहुंचते हैं। "हम अपनी मानसिक स्वानुभूति की शक्ति को उस आत्मा की अनुभूति के लिए विस्तृत कर सकते हैं जो हमसे वाहर और परे हैं, जिसे उपनिषदों ने आत्मा या व्रह्म कहा है। तव हम उन सत्यों का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं जो विश्व में व्याप्त आत्मा या व्रह्म के अन्तस्तत्त्व हैं। इस संभावना के ऊपर ही भारतीय वेदान्त ने स्वयं को प्रतिष्ठित किया है।" किन्तु वेदान्त मन और वुद्धि दोनों से परे जाने का निर्देश करता है क्योंकि "उच्चतम मानसिक अनुभव और वौद्धिक धारणाएं भी परम सत् तत्त्व नहीं हैं अपितु उनके प्रतिविम्व मात्र हैं"। श्री अरविन्द वेदान्त के अनुसार अन्तःप्रज्ञा (इन्ट्यूशन) के स्वरूप एवं महत्त्व का विवेचन करते हैं। "ज्ञाता और ज्ञेय में सचेतन या प्रभावी तादात्म्य ही अन्तःप्रज्ञा का आधार है; यह सर्वसामान्य आत्मसत्ता की वह अवस्था है जिसमें ज्ञान के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं"। किन्तु अन्तःप्रज्ञा की पूर्ण अभिव्यक्ति अवचेतन में न होकर अतिचेतन में होती है। अन्तःप्रज्ञा ही उच्चतम संभव ज्ञान की अवस्था है जव मन, अतिमन

(अर्थात् योग-वेदान्त का 'विज्ञान') में परिपूर्ण ही उठता है। श्री अरविन्द यह महत्त्वपूर्ण बात बताते हैं कि "अन्तःप्रज्ञा हमारी प्रथम गुरु है। अन्तःप्रज्ञा सर्वदा हमारी मानसिक क्रियाओं के पीछे विद्यमान रहती है। अन्तः प्रज्ञा मनुष्य के पास अज्ञात ब्रह्म से ऐसे दीप्त सन्देश लाती है जो उसके उच्चतर ज्ञान का प्रारंभ हैं। तर्क-बुद्धि बाद में ही यह देखने आती है कि इस उत्तम फसल से वह क्या लाभ उठा सकती है।" "अन्तःप्रज्ञा प्रकृति से उद्भूत है और इस कारण उसी के सदृश बलशाली भी है और वह बुद्धि के विरोधों व अनुभव के प्रतिषेधों की चिन्ता नहीं करती।...अन्तः प्रज्ञा हमें सत्य को उस व्यवस्थित और स्पष्ट रूप में नहीं दे सकती, जिसकी मांग हम स्वभावतः करते हैं।" और इसी कारण उपनिषदों के अन्त प्रज्ञा-युग के उपरान्त बौद्धिक युग आया जिसमें दर्शन और शास्त्रों की रचना हुई। "उपनिषदों में कहीं भी वेदान्त के सत्यों के समर्थन में नैयायिक तर्कबुद्धि का चिह्न तक नहीं मिलता। उपनिषदों के ऋषियों कीयह धारणा रही जान पड़तीहै कि एक अन्तःप्रज्ञा का संशोधन अधिक परिपूर्ण अन्तःप्रज्ञा के द्वारा करना चाहिए; नैयायिक तर्कबुद्धि इसकी निर्णायक नहीं हो सकती"। दार्शनिक तार्किकों ने निर्दोष तर्कसंगत सिद्धान्त बनाने के प्रयास में अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान की एकता को भंग कर दिया किन्तु फिर भी "प्राचीन वेदान्त के मुख्य विचार खण्ड-खण्ड रूप से भिन्न-भिन्न दर्शनों में बने रहे; साथ ही समय-समय पर ऐसे प्रयत्न भी किए जाते रहे कि उन सब खण्डों को फिर जोड़ कर उन्हें अन्तःप्रज्ञात्मक विचार की प्राचीन उदारता व एकता का कोई रूप दे दिया जाए।"

शुद्ध सत्

श्री अरविन्द ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक शुद्ध सत् का वर्णन किया है। वे निष्कर्ष पूर्वक कहते हैं—"अतः शुद्ध सत् धारणा मात्र नहीं है, अपितु एक तथ्य है; यह मूलभूत यथार्थता है" किन्तु साथ ही जगत भी एक यथार्थ है और यह संभवन का सत्य है जैसे शुद्ध सत् अस्तित्व का सत् है। इनमें से एक को भी नकारना त्रुटि है। जैसे ब्रह्म एकता और अनेकता से परे है वैसे ही निरपेक्ष ब्रह्म गति व स्थिरता से भी परे है। श्री अरविन्द के शब्दों में—"विश्व-सत्ता शिव का ऐसा आनंदमय नृत्य है जो ईश्वर की देह को हमारी दृष्टि में असंख्य गुना कर देता है...इसका एकमात्र परम उद्देश्य है नृत्य का आनंद"। इस नृत्य से शुद्ध ब्रह्म में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। किन्तु हमारा मन अपनी सीमाओं के कारण निरपेक्ष ब्रह्म की धारणा में असमर्थ है। "अतः हमें द्विविध तथ्य को स्वीकार करना चाहिए, (स्थाणु-) शिव और (गतिमयी-)काली दोनों को स्वीकार करना चाहिए।" शुद्ध सत् के विवेचन के पश्चात् श्री अरविन्द इस गतिमयी शक्ति—काली—के स्वरूप-विवेचन में प्रवृत्त होते हैं।

चित् शक्ति

श्री अरविन्द ने भारतीय दर्शन में विवेचित शक्तितत्त्व का संक्षिप्त विवेचन करते हुए निष्कर्ष रूप में कहा है—"चेतना के व्यापार की चाहे जैसी व्याख्या की जाए, चाहे प्रकृति कोई निष्क्रिय आवेग हो या चेतन तत्त्व, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि वह शक्ति है; समस्त पदार्थों का मूलतत्त्व शक्तियों की रचनात्मक गति है; समस्त रूपों की उत्पत्ति, निराकार शक्तियों के मिलने व परस्पर अनुकूल बनने से होती है; समस्त संवेदन और कर्म, शक्ति के अन्य रूपों से संयोग होने पर शक्ति के एक रूप में विद्यमान किसी की प्रतिक्रिया है।" इस प्रकार यह जगत शक्तिमय है, यही अनुभव में आता है। यह शक्ति सत् से भिन्न नहीं है, उसी में निहित है और उसका स्वभाव है क्रमशः आत्मप्रसारण और संकेन्द्रण करना। श्री अरविन्द 'चेतना' और 'शक्ति' के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए 'चेतना' के स्वरूप का भव्य उद्घाटन करते हैं। 'चेतना' का अर्थ 'मन' नहीं है अपितु सत् की आत्म चेतन शक्ति है। मन उसका एक मध्यवर्ती रूप मात्र है और 'मन से नीचे वह आत्मचेतन शक्ति उन प्राणिक और भौतिक गतियों में उतरती है जो हमारे लिए अवचेतन है; मन से ऊपर वह उस अतिमानस में आरोहण करती है जो हमारे लिए अतिचेतन है। परन्तु सर्वत्र वह एक ही तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न रूपों में गति करता है। यही, पुनः कहें तो, भारतीय चित् तत्त्व है जो शक्ति-रूप से लोकों की सृष्टि करता है।"

सत्ता का आनन्द : समस्या और समाधान

जो ब्रह्म 'सत्' और 'चित्' है, वह 'आनन्द' भी है क्योंकि "चेतन सत् की निरपेक्षता है चेतन सत् का असीम आनन्द ; दोनों एक ही के लिए भिन्न नाम मात्र हैं। सभी असीमता, सभी अनन्तता, सभी निरपेक्षता शुद्ध आनन्द है।" जब ब्रह्म आनन्दमय है और सब कुछ ब्रह्म है तो फिर दुःख की समस्या का क्या समाधान होगा ? प्रथम बात तो यह है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म ही जीव-रूप में सुख-दुःख, शुभ-अशुभ को भोगता है, न कि कोई ईश्वर किन्हीं अन्य जीवों को सुख-दुःख में डालता रहता है। दूसरी बात यह है कि "सीमित मनोमय पुरुष के पीछे वर्तमान बृहत् आनन्दमय पुरुष है।" वही मानव का सच्चा स्वरूप है, ऊपरी रूप नहीं और उसके लिए सुख-दुःख आदि समान आनन्दमय हैं ऐसा अनुभव में आता है। "यह सुख, दुःख एवं उदासीनता रूपी त्रिविध स्पन्दन ऊपरी होने के कारण, हमारे अपूर्ण विकास की एक व्यवस्था व परिणाम होने के कारण, न तो निरपेक्ष है, न आवश्यक।···किसी विशिष्ट संयोग में हमें सुख या दुःख का अनुभव इस कारण होता है कि हमारा स्वभाव उसका अभ्यस्त हो गया है···।" और यदि मानव चाहे तो

अपने स्वभाव को बदल कर अखण्ड आनन्द अनुभव कर सकता है। "मानसिक व शारीरिक दुःख प्रकृति की अर्थात शक्ति की अपने कार्यों में एक युक्ति है जो उसके ऊर्ध्वमुखी विकास में एक निश्चित संक्रमणकालीन उद्देश्य पूरा करती है"। वस्तुत दुःख और सुख दोनों ही आनन्द हैं किन्तु "दुःख है अस्तित्व के आघातों को झेलने में हमारी चेतन-शक्ति की विफलता तथा इसके परिणामस्वरूप संकुचन और इसका मूल है हमारी ग्रहणशील व अधिकारमय शक्ति की असमानता जो अपने सच्चे स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न अहंकार से होने वाली आत्म-सीमावद्धता के कारण होती है।" इसीलिए 'जुगुप्सा' के स्थान पर 'तितिक्षा' के अभ्यास से दुःख लुप्त हो जाता है। और सच्चिदानंद के भीतर केवल आनन्द ही आनन्द है, यह सिद्ध हो जाता है।

दिव्य माया

सच्चिदानन्द ब्रह्म जिस प्रक्रिया में विश्व-प्रपंच का रूप धारण करता है उसका रहस्य ऋषियों के 'माया' तत्त्व में है। इसे 'माया' कहा गया है क्योंकि यह मापन करती है अर्थात रूप प्रदान करती है। माया के द्वारा ही परम-ब्रह्म में से जगत प्रकट होता है। किन्तु माया दो प्रकार की है—निम्नतर और उच्चतर। विश्व-क्रीड़ा में जो 'सब में प्रत्येक और प्रत्येक में सब' की विद्यमानता का मूल तथ्य है, उसका एक अंश निम्नतर अर्थात मानसिक माया छिपा लेती है। "जो प्रत्येक को यह प्रतीति कराती है कि वह तो सब में है किन्तु सब उसमें नहीं हैं तथा वह भी सब में एक पृथक सत्ता के रूप में है न कि शेष विश्व से एकीभूत रूप में।" इस मानसिक माया को पार करके अतिमानसिक माया अर्थात 'दिव्य माया' को स्वीकार करना होगा जो 'एक' और 'सब' की नित्य एकता की प्रतीति कराती है।

स्रष्टा के रूप में अतिमन

श्री अरविन्द ने जिसे 'सुपरमाइण्ड' कहा है, वह वस्तुतः वेदान्त की भाषा में 'विज्ञान' है किन्तु श्री अरविन्द-आश्रम के हिन्दी प्रकाशनों में उसे 'अतिमन' लिख कर अंग्रेज़ी अनुवाद के अनुवाद का द्रविड़ प्राणायाम कराया गया है और अब यह 'अतिमन' शब्द ही रूढ़ होने से यहां प्रयुक्त किया गया है। 'एक' ब्रह्म से 'अनेक' विश्व के मध्य, (मन से श्रेष्ठतर और विभिन्न लोकों के स्रष्टा), 'अतिमन' की स्थिति है। निस्सन्देह उसका साक्षात्कार कुछ प्रबुद्ध क्षणों में किया जाना ही प्रायः वर्णित है। तथापि, वह किसी परकीय सत्ता का अंग नहीं है। प्रत्येक मानव की अपनी सत्ता में उसका अस्तित्व है और विकासशील मानवचेतना जब अमरत्व, प्रकाश, ज्ञान इत्यादि की आकांक्षा करती है तब वह 'अतिमन' को प्राप्त करने की

ओर ही उन्मुख होती है। चेतना के उच्चतर स्तरों पर पहुंचकर मन अतिमन की ज्योति को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। श्री अरविन्द वेद-मंत्रों में इस विषय की सामग्री का संक्षिप्त परिचय देते हैं और फिर अतिमन का सरल विवेचन करते हैं। उनके शब्दों में —"अतिमन ब्रह्म का वृहत् आत्मविस्तार है"। पुनः "अतिमन में सत्ता, ज्ञान-चेतना और इच्छा-चेतना विभक्त नहीं है जैसी वे हमारे मानसिक कार्यों में प्रतीत होती हैं। अतिमन में मन जैसा विभाजक गुण नहीं है क्योंकि "अतिमन वृहत् है, इसका प्रारम्भ एकता से होता है, विभाजन से नहीं; यह मुख्यतया व्यापक है, विभेद करना तो इसका गौण कर्म है।"

प्राण तथा उसकी समस्या

इतने विवेचन के पश्चात श्री अरविन्द ने अनेक अध्यायों में अतिमन तथा उच्चतर चेतना-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तत्त्व-दर्शन प्रस्तुत किया है। तदनन्तर वे बताते हैं कि सर्वव्यापी प्राण अर्थात गतिशील शक्ति से ही नानारूपात्मक विश्व निर्मित हुआ है। "प्राण ही वह शक्ति है जो जगत में रूपों का सृजन, रक्षण और विध्वंस करती है।...यहां सम्पूर्ण सत्ता वैश्व प्राण ही है जो द्रव्य का रूप धारण करता है।" श्री अरविन्द प्राणतत्त्व का अत्यन्त गहराई से विवेचन करते हैं और श्वास-प्रश्वास को जो प्राण की क्रिया मात्र हैं प्राण समझने की सामान्य भूल से सावधान भी करते हैं। वे आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी 'प्राण' का विवेचन करते हैं तथा उससे आगे बढ़कर वनस्पतिगत प्राण के समान ही वस्तुगत प्राण की भी सत्ता की घोषणा करते हैं।

श्री अरविन्द यह भी बताते हैं कि "जैसे मन, अतिमन का अंतिम कार्य मात्र है, वैसे ही प्राण उस चित्-शक्ति का एक अंतिम कार्य मात्र है जिसका नियामक रूप और सृजनकारी प्रतिनिधि 'सत्य-संकल्प' है। चेतना, जो शक्ति है, सत्पुरुष का स्वरूप है और यह चेतन सत्पुरुष जब सृजनकारी ज्ञान-इच्छा का रूप धारण कर लेता है, तब वह सत्य-संकल्प या अतिमन होता है।" यद्यपि प्राण, शक्ति है किन्तु खण्डरूप व्यक्तिगत प्राण होने के कारण वह विश्व का स्वामी नहीं हो सकता और इसीलिए मृत्यु, कामना और असमर्थता मानव-जीवन पर छाए रहते हैं। अनन्तता की प्राप्ति की यात्री आत्मा के लिए देहरूपी माध्यम को बदलना आवश्यक होता है और यही मृत्यु का उपयोग है। इस प्रकार मृत्यु "प्राण का निषेध नहीं है, प्राण की एक प्रक्रिया है।" इसी प्रकार व्यक्ति का पूर्णत्व की प्राप्ति का प्रयास ही 'कामना' है। अमरत्व की प्राप्ति से मृत्यु का प्रतिषेध होगा और अनन्तता की प्राप्ति से कामना का। ठीक ऐसे ही शक्ति से एक रूप हो जाने पर 'असमर्थता' भी दूर हो जाएगी। खंडित व्यक्ति-जीवन में मृत्यु, कामना व संघर्ष का त्रिक बना ही रहेगा।"

श्री अरविन्द वताते हैं कि प्राण की यात्रा में मन को अपने से परे अतिमन तक जाना ही होगा। विकास के नियम के अनुसार यह आवश्यक है कि मनोमय मानव "या तो स्वयं दिव्य मानव वन जाए अथवा अतिमानव के लिए स्थान छोड़ दे।"

मानव में दोहरी अन्तरात्मा

श्री अरविन्द वताते हैं कि जैसे हमारे दो प्राण हैं, दो मन हैं, वैसे ही दो अन्तरात्मा भी हैं—"इसी प्रकार हमारे भीतर द्विविध चेतनतत्त्व रहता है, एक है ऊपरी तत्त्व की सकाम आत्मा जो हमारी प्राणिक तृष्णाओं में, हमारे भावावेगों में, सौन्दर्यवोध में और वल, ज्ञान, सुख के मानसिक अन्वेपण में सक्रिय रहता है। दूसरा अन्तस्तलीय चैत्यतत्त्व है। यह ज्योति, प्रेम, हर्प की शुद्ध शक्ति है। यह हमारी सत्ता का परिष्कृत सार तत्त्व है···यह हमारी यथार्थ अन्तरात्मा है।" यह "ईश्वर की ज्योति-शिखा" है, यह "हमारे भीतर छिपा हुआ साक्षी और नियन्ता, गुप्त पथ-प्रदर्शक है।" श्री अरविन्द ने इस चैत्य पुरुप का विस्तृत विवेचन किया है और अतिमन के द्वारा चैत्य पुरुप की परिपूर्णता की विधि पर प्रकाश डाला है।

जड़तत्त्व की ग्रन्थि

श्री अरविन्द के अनुसार "जड़तत्त्व सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है।" व्यवहार में हम ब्रह्म और जड़ द्रव्य में जो अन्तर देखते हैं, वह एक भारी अन्तर प्रतीत होता हैं किन्तु "चेतन सत् जव स्वयं को इन्द्रिय के विपय के रूप में प्रस्तुत करता है तो वह द्रव्य कहलाता है।" ये दोनों एक ही हैं। "जिसका हमें भौतिक द्रव्य के रूप में इन्द्रिय-ज्ञान होता है उसका अंतरात्मा और यथार्थ स्वरूप ब्रह्म है; जिसका हमें ब्रह्म के रूप में प्रत्यक्ष होता है उसका भौतिक द्रव्य एक रूप और देह है।" मनुष्य भौतिक जगत में सीमित रहकर चिरकाल तक संतुप्ट रह ही नहीं सकता। वह सांत प्रतीत होता हुआ भी अनन्त को अधिकृत करने के लिए प्रयत्नशील रहे, यह उसका स्वभाव है—"मनुष्य ऐसा ही सांत प्रतीत होने वाला अनंत है और वह अनंत का अन्वेपण किए विना नहीं रह सकता। वह पृथ्वी का सवसे पहला ऐसा पुत्र है जो अपने भीतर ईश्वर का, अपनी अमरता का अथवा अपनी अमरता की आवश्यकता का अस्पप्टता से अनुभव करता है; और जव तक मनुष्य इस अस्पष्ट ज्ञान को अनंत ज्योति, हर्प और शक्ति के स्रोत के रूप में परिणत नहीं कर लेता, तव तक यह अस्पप्ट ज्ञान ही ऐसा कोड़ा है जो उसे आगे चलाता रहता है और हर प्रकार का वलिदान करने के लिए विवश करता है।" श्री अरविन्द वताते हैं कि भौतिक द्रव्य में तीन रूपों—आत्म-परिसीमन, अज्ञान और अहंकार—की सृप्टि विभक्त मन ने की है और इस कारण वह उसमें ब्रह्म की एकता का दर्शन नहीं कर पाता। और यदि विश्व में ब्रह्म व्याप्त है जो अनन्त सत्ता, ज्ञान और इच्छा

हैं जो "जड़तत्त्व से पहले प्राण के रूप में, फिर मन के रूप में प्रकट होता है और उसका शेष भाग अभी अप्रकट ही है तो···पृथ्वी पर ऐसे अतिमानसिक आध्यात्मिक प्राणी का प्रकट होना असम्भव नहीं रह जाता जो अपने मन, प्राण और शरीर की क्रियाओं पर विभाजक मन के नियम की अपेक्षा उच्चतर नियम को स्थापित करेगा। ऐसा अतिमानसिक प्राणी···मन को उसकी विभक्त सत्ता की ग्रंथि से मुक्त करेगा और मन के व्यक्तिगत रूप का सर्वग्राही अतिमन के उपयोगी व अधीनस्थ कर्म के रूप में उपयोग करेगा।" यही दिव्य जीवन की प्राप्ति होगी।

सत्ता के सात सूत्र

श्री अरविन्द बताते हैं कि "द्रव्य के दिव्य रूपों की आरोहण करती हुई एक श्रेणी-परम्परा है।" द्रव्य की आरोहण करती परम्परा में क्रमशः कम रूप-बन्धन तथा क्रमशः अधिक सूक्ष्मता वाले द्रव्य मिलेंगे। निस्सन्देह "भौतिक सत्ता का जो विधान है, वह इन्द्रिय और द्रव्य के बीच में एक विशेष व निश्चित सम्बन्ध का परिणाम है जिससे भौतिक विश्व उत्पन्न होता है। परन्तु यह सम्बन्ध ही एकमात्र सम्बन्ध नहीं है और इसीलिए वह नियम भी एकमात्र संभव नियम नहीं है।" जड़-तत्त्व में चित् शक्ति अधिक से अधिक आत्मविस्मृत रहती है और आत्मतत्त्व में जागृत। इन दोनों के मध्य में अनेक सोपान हैं।

श्री अरविन्द बताते हैं कि सिद्ध मनुष्य के दिव्य प्राण और दिव्य मन की तुलना सामान्य प्राण व सामान्य देह से करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी पर ही दिव्य मन और दिव्य इन्द्रिय अथवा दिव्य मानव-देह की संभावना है। "यह भी संभव है कि किसी दिन मनुष्य की देह ही रूपान्तरित होकर दिव्य बन जाए; पृथ्वी माता भी अपनी दिव्यता हमारे अन्दर प्रकट कर दे।"

श्री अरविन्द ने इन्द्रिय, प्राण और मन का आधार पृथ्वी तत्त्व है, इस सूत्र की व्याख्या की है—"इन्द्रिय, प्राण और मन पृथ्वी से ही प्रारम्भ होते हैं, इसके नियमों का पालन करते हैं, अपनी क्रियाओं को इस मूलभूत तत्त्व के अनुकूल बनाते हैं, स्वयं को इसकी संभावनाओं से सीमित करते हैं और यदि वे दूसरी संभावनाओं को विकसित करना चाहते हैं तो इस विकास में भी उन्हें मूल तत्त्व को, उसके उद्देश्य को और दिव्य विकास से उसकी मांग को ध्यान में रखना होता है।"

द्रव्य के दूसरे सोपान में प्राण और सचेतन कामना की प्रधानता है, रूप व शक्ति की नहीं। अतः मौलिक स्तर से ऊपर का लोक सचेतन प्राण के अधीन होना चाहिए। उससे उच्चतर लोक में मन नियामक तत्त्व होगा। और उससे भी ऊपर अतिमन और फिर क्रमशः शुद्ध आनन्द, शुद्ध चित् शक्ति तथा शुद्ध सत्। ये ही विश्व सत्ता के वे स्तर हैं "जिन्हें प्राचीन वैदिक ऋषियों ने दिव्य सत्ता के दिव्य धाम और अमृतत्त्व की प्रतिष्ठा कहा है और जिन्हें उत्तरकालीन भारतीय धर्मों

में ब्रह्म लोक या गोलोक के रूप में चित्रित किया गया है।".

श्री अरविन्द ने अन्नमय आदि पंचकोषों, षट्चक्रों आदि के प्राचीन ज्ञान का उल्लेख करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं तथा दिव्य जीवन की संभावना को तार्किक आधार पर सिद्ध किया है—"हम जानते ही हैं कि जागृतमन के पीछे चेतना की बृहत्तर भूमिकाएं हैं, जो उसके लिए अवचेतन और अतिचेतन हैं और जिनका हमें कभी-कभी साधारण अवस्था में अनुभव होता है; इसी प्रकार हमारी स्थूल शारीरिक सत्ता के पीछे द्रव्य की दूसरी और सूक्ष्मतर भूमिकाएं हैं जिनके नियम सूक्ष्म हैं और जो अधिक सघन शरीर का आधार हैं।" और द्रव्य की सूक्ष्मतर भूमिकाओं में प्रवेश करके एक श्रेष्ठ जीवन के विकास की संभावना साकार हो जाती है जो जीवन मरण, रोग, दरिद्रता, तृष्णा आदि से मुक्त हो।

श्री अरविन्द ने सत्ता के जिन सात सूत्रों की चर्चा ऊपर की है, उनमें जड़ तत्त्व को भी जोड़कर आरोहण व अवरोहण के विपरीत क्रम में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

सत्	जड़तत्त्व
चित्	प्राण
आनन्द	चैत्यतत्त्व
अतिमन (विज्ञान)	मन

तथा एक महत्त्वपूर्ण बात इस प्रकार प्रस्तुत की है—"पदार्थों की आध्यात्मिक व्यवस्था में हम अपनी दृष्टि व आकांक्षा को जितना अधिक ऊंचा उठाते हैं, उतना ही अधिक महान सत्य हम पर अवतरण करना चाहता है। कारण यह है कि वह सत्य हमारे भीतर पहले से ही विद्यमान है और व्यक्त प्रकृति में छिपाने वाले आवरण से मुक्ति के लिए पुकार रहा है।"

अतिमन, मन और अधिमन माया

प्रथम भाग के अंतिम अध्याय में श्री अरविन्द ने ज्ञान से पतन अर्थात् अज्ञान में पतन की विधि का विचार किया है तथा अतिमन, मन और अधिमन माया का विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—"जैसे प्राण और मन जड़तत्त्व में उन्मुक्त हुए हैं, उसी प्रकार छिपे हुए देवत्व की ये महत्तर शक्तियां भी अपने समय पर अन्तर्लयन से निर्गत होनी चाहिएं और उनकी पराज्योति ऊपर से हममें अवतरित होनी चाहिए।" तथा "दिव्य जीवन प्रकृति के विकासात्मक प्रयास का अनिवार्य परिणाम और चरम परिणति है।"

'दिव्य जीवन' का द्वितीय भाग

ज्ञान से अज्ञान में पतन की समस्या का विवेचन श्री अरविन्द ने द्वितीय भाग

के प्रथम खण्ड में (अर्थात् चौदह अध्यायों में) किया है। तथा ज्ञान की पुनः प्राप्ति कैसे हो सकती है, इसका विवेचन द्वितीय भाग के द्वितीय खण्ड में (अर्थात् चौदह अध्यायों में) किया है। द्वितीय भाग के ये २८ अध्याय और भी अधिक महत्त्वपूर्ण, गंभीर एवं सरस हैं किन्तु स्थानाभाव से उनका संक्षिप्त परिचय भी इस समय यहां नहीं दिया जा रहा है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ निस्सन्देह गद्य में रचित एक महाकाव्य जैसा आकर्षक है और श्री अरविन्द की संश्लेषणात्मक प्रतिभा का भव्य एवं अमर स्मारक है।

२. योग-समन्वय

श्री अरविन्द की कृति 'योग-समन्वय' (दी सिनथिसिस आफ़ योग) की सामग्री पहले 'आर्य' में (जनवरी १९१५ से जनवरी १९२१ तक) क्रमशः प्रकाशित हुई थी और वाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इसमें पांच अध्यायों की भूमिका के उपरान्त चार भाग हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ अत्यन्त गंभीर है।

भूमिका का शीर्षक है 'समन्वय की शर्तें' और पांच अध्यायों के शीर्षक क्रमशः हैं, 'जीवन और योग', 'प्रकृति के तीन पग', 'त्रिविध जीवन', 'योग की प्रणालियां' और 'समन्वय'। श्री अरविन्द भूमिका में वताते हैं कि वर्तमान युग भावी सृष्टि को जन्म देने की तैयारी में है। वे भारतीय योग का सारतत्त्व वताते हुए उसे "प्रकृति की कुछ महान शक्तियों की एक विशेष क्रिया या रचना" तथा "विविध प्रकार से निर्मित" कहते हैं। "वह आधुनिक जीवित मानवी शक्तियों और उपयोगिताओं के भावी संघात में अपना स्थान खोज रहा है। किन्तु इसे पहले अपने आपको पाना है···वाद में ही यह मानव जाति के पुनर्व्यवस्थित जीवन में अधिक सरलता से तथा अधिक शक्तिशाली रूप में प्रवेश पा सकेगा।" उसके द्वारा मानव का पूर्णतम विकास होगा। और योग का क्या अर्थ है? "सत्ता में प्रसुप्त क्षमताओं की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्म-परिपूर्णता के लिए किया गया विधिपूर्ण प्रयत्न तथा मानव-व्यक्ति का उस विश्वव्यापी और परात्पर के साथ मिलन।" और इस कारण गहरी दृष्टि से देखने पर "सम्पूर्ण जीवन ही चेतन या अवचेतन रूप में योग है।" किन्तु "समस्त जीवन ही योग है" यह कथन तभी पूर्णतया सार्थक हो सकता है जव प्रकृति में जैसा अवचेतन योग होता है, "मनुष्य में वैसा सचेतन योग वाह्यतः जीवन के साथ समान रूप से व्यापक हो जाए।"

श्री अरविन्द प्रकृति की तीन क्रमिक अवस्थाएं — शारीरिक जीवन, मानसिक जीवन तथा दिव्य जीवन—वताते हैं। शारीरिक जीवन इस संसार में हमारे

अस्तित्व का आधार है। मानसिक जीवन हमारी अभिव्यक्ति ही के लिए है और उसके द्वारा हम शारीरिक जीवन का उच्चतर उपयोग करते हैं। "दिव्य जीवन इन दोनों का ही लक्ष्य है और उसके द्वारा शारीरिक व मानसिक जीवन की उच्चतम संभावनाएं साकार होती हैं।" और व्यक्ति भी केवल अपने अन्दर ही सीमित नहीं है, "वह समूह में भी निवास करता है और वैयक्तिक पूर्णता व मुक्ति ही संसार में भगवान के अभिप्राय का समस्त अर्थ नहीं है। हमारी स्वाधीनता के स्वतन्त्र प्रयोग में दूसरों की ही नहीं, मनुष्य मात्र की भी मुक्ति निहित है।" और मनुष्य जीवन की सार्थकता निजी मुक्ति में नहीं है अपितु स्वयं दिव्यता में जीने के साथ ही शेष मानव समाज को भी दिव्य जीवन में भागीदार बनाने में है।

श्री अरविन्द बताते हैं कि आत्मा सनातन तत्त्व है, परमात्मा की प्रतिमूर्ति है किन्तु छिपी हुई है और वह स्वयं को मन व शरीर के साधनों द्वारा प्रकाश में लाना चाहती है। प्रकृति इस विकास-क्रिया को धीरे-धीरे करती है किन्तु उसी को "व्यक्ति के लिए 'योग' द्रुत विकास के द्वारा साधित कर लेता है।" कारण यह है कि "प्रकृति भगवान को अपने प्रतीकों में खोजती है। योग 'प्रकृति' से आगे 'प्रकृति' के स्वामी तक, विश्व से आगे 'परात्पर सत्ता' तक जाता है और फिर परात्परप्रकाश और परात्पर शक्तिसहित सर्वशक्तिमान भगवान के आदेश से वापस भी लौट सकता है।" योग को मानव-जाति में व्यापक बनाने का लाभ यही है कि प्रकृति अपने लक्ष्य की प्राप्ति में विलम्ब न करे। योग में विकास के लिए व्यक्ति अर्थात् मानव-आत्मा, वैश्वसत्ता अर्थात् प्रकृति और परात्पर सत्ता अर्थात् भगवान तीनों का सहयोग आवश्यक होता है। श्री अरविन्द ने योग की प्रचलित प्रमुख प्रणालियों—हठयोग, राजयोग इत्यादि—में यही केन्द्रीय विचार देखा है—शरीर से आरम्भ करके "वैयक्तिक आत्मा और परात्पर व वैश्व सत्ताओं के बीच के सम्बन्ध तक" का एक आरोही क्रम। हठयोग स्थूल शरीर को, राजयोग सूक्ष्म शरीर को तथा कर्म, प्रेम व ज्ञान के मार्ग संकल्प शक्ति, हृदय या बुद्धि को प्रारंभिक बिंदु मानकर चलते हैं। श्री अरविन्द इन योग-प्रणालियों की मीमांसा करते हैं तथा "आध्यात्मिक जीवन और उसके अनुभवों को पूर्णतया सक्रिय बनाने तथा जागृत अवस्था में, साथ ही क्रियाओं के सामान्य प्रयोग में भी, उन्हें पूर्ण बनाने" की दृष्टि से उनकी सीमाएं बताते हैं। वे ज्ञान, भक्ति और कर्म के त्रिविध मार्गों के सही प्रयोगों के लाभ भी बताते हैं।

श्री अरविन्द का पूर्ण योग वस्तुतः योग-समन्वय है किन्तु इस समन्वय का अर्थ अविचारी बनकर अन्य पद्धतियों का मिश्रण कर देना नहीं है क्योंकि ये प्रणालियां स्वयं अत्यन्त विशिष्ट व जटिल हैं। सभी प्रणालियों का क्रमशः अभ्यास करना भी, जैसा श्री रामकृष्ण परमहंस ने किया था, श्री अरविन्द का योग-समन्वय नहीं है। उनके अनुसार यह समन्वय तभी संभव है जब "यौगिक साधना-

प्रणालियों के रूप और वाह्य प्रकार छोड़कर किसी ऐसे केन्द्रीय सामान्य सिद्धान्त को पकड़ लें जो उचित स्थान और उचित मात्रा में उनके विशिष्ट सिद्धान्तों को अपने अन्दर निहित कर लेगा तथा उनका उपयोग करेगा।" तन्त्र में ऐतिहासिक समन्वयात्मक प्रवृत्ति मिलती है किन्तु वह वैदिक योग पद्धतियों का भिन्न है। वैदिक योग-पद्धतियों में योग का स्वामी 'पुरुष' है, तंत्र में 'प्रकृति'। श्री अरविन्द ने तंत्र के मूल विचार की मीमांसा की है तथा कालान्तर में उसका यांत्रिक कर्म-काण्ड में खो जाना भी वताया है।

वस्तुतः व्यक्ति यदि संसार से हटकर भगवत्प्राप्ति करना चाहे तो समन्वय की आवश्यकता नहीं है, तव तो किसी भी मार्ग को अपने लिए चुनकर भगवान तक पहुंचा जा सकता है "किन्तु यदि हमारा उद्देश्य अपनी सम्पूर्ण सत्ता को भागवत जीवन के अंग-प्रत्यंग में रूपान्तरित करना है तो यह समन्वय आवश्यक हो जाता है।" और तव श्री अरविन्द वताते हैं कि "हमें इस प्रणाली का अनुसरण करना होगा कि हम अपनी समस्त चेतन सत्ता को भगवान के सम्वन्ध और सम्पर्क में रख दें और हमारी सम्पूर्ण सत्ता को अपनी सत्ता में वे रूपान्तरित करें, इसके लिए उन्हें अपने अन्दर पुकारें।" इससे लाभ यह होता है कि स्वयं भगवान ही "योग-साधना के साधक व स्वामी साथ ही" वन जाते हैं और मानव व्यक्ति का दिव्य रूपान्तर हो जाता है। यह प्रणाली सर्वांगीण है और उसका परिणाम भी वैसा ही है और इस कारण हममें केवल सत्ता में ही नहीं, अपितु "कार्यों, लोकों और प्रणालियों की असीम विविधता में भी" एकता की प्राप्ति होती है। हममें मुक्ति भी सर्वांगीण होती है तथा फलस्वरूप "ज्ञान, प्रेम और कर्म के परिणामों में पूर्ण समन्वय स्थापित होता है।" आध्यात्मिक जीवन की सर्वांगीणता प्राप्त होने से सम्पूर्ण मानव-जाति के दिव्यीकरण के लिए भी यह सहायक है।

इस प्रकार एक विस्तृत भूमिका के उपरान्त श्री अरविन्द पहले भाग 'दिव्य कर्मों का योग' के १३ अध्यायों में महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हैं। ये अध्याय हैं—

१. चार साधन,
२. आत्म-निवेदन,
३. कर्म में आत्मसमर्पण—गीता का मार्ग,
४. यज्ञ, त्रिदल-पथ और यज्ञ के अधीश्वर,
५. यज्ञ का आरोहण (१) ज्ञान के कर्म—चैत्य पुरुष,
६. यज्ञ का आरोहण (२) प्रेम के कर्म—प्राण के कर्म,
७. आचार के मानदण्ड और आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य,
८. परम इच्छा शक्ति,
९. समता की प्राप्ति और अहं का नाश,

१०. प्रकृति के तीन गुण,

११. कर्म का स्वामी,

१२. दिव्य कर्म,

तथा १३. अतिमानस और कर्मयोग।

श्री अरविन्द 'चार साधन' में बताते हैं कि योग में सिद्धि अर्थात पूर्णता की प्राप्ति के लिए चार साधन आवश्यक हैं—शास्त्र, उत्साह, गुरु और काल। शास्त्र का अर्थ है "उन सत्यों, मूल सूत्रों, शक्तियों और प्रक्रियाओं का ज्ञान जिन पर सिद्धि निर्भर है।" उत्साह का अर्थ है—शास्त्र के अनुसार धैर्यपूर्वक "व्यक्तिगत प्रयत्नता का वल।" गुरु का अर्थ है "गुरु का साक्षात् निर्देश, दृष्टान्त और प्रभाव जो लक्ष्य तक पहुंचा दे। तथा काल है 'समय का माध्यम'।

श्री अरविन्द के पूर्ण योग में शास्त्र है "प्रत्येक विचारशील प्राणी की हृदय गुहा में निहित नित्य वेद।" और पूर्ण योग के साधन के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी भी शास्त्र का उपयोग करे किन्तु उससे अपने को वांधकर न बैठ जाए क्योंकि "वह एक पुस्तक का या अनेक पुस्तकों का साधक नहीं, वह अनन्त देव का साधक है।" साधक के लिए सवसे आवश्यक है "अभिमुखता की तीव्रता, अर्थात वह शक्ति जो आत्मा को अन्तर्मुख करती है। हृदय की आकांक्षा की शक्ति, संकल्प का वल, मन की एकाग्रता, प्रयुक्त शक्ति का अनवरत उद्योग और दृढ़ निश्चय—उस तीव्रता के नाम हैं।" इसी प्रकार इस पूर्णयोग का गुरु है "हमारे भीतर छिपा हुआ अन्तःस्थित पथप्रदर्शक, संसार का शिक्षक जगद्गुरु।" और उस ईश्वर की वाह्य मूर्ति हैं पैगम्बर या गुरु क्योंकि "मानव आत्मा की आवश्यकता के अनुसार भगवान स्वयं को इष्टदेव के रूप, मानव स्वरूप देव के रूप में अभिव्यक्त करते हैं, अथवा वे स्वयं को सीधी-सादी मानवता में प्रकट करते हैं।" पूर्ण योग का साधक साम्प्रदायिक आग्रह से रहित होता है। वह अपने मार्गदर्शक गुरु के अतिरिक्त अन्य का विरोध नहीं करता। "पूर्ण योग का साधक अपनी प्रवृत्ति के अनुसार इन सव साधनों व सहायताओं का उपयोग करेगा, परन्तु यह आवश्यक है कि वह उनकी न्यूनताओं का परित्याग करे और अहंभावपूर्ण मन की उस एकांगी प्रवृत्ति को निकाल फेंके जो आग्रहपूर्वक कहती है 'मेरा ईश्वर, मेरा अवतार, मेरा पैगम्वर, मेरा गुरु' और इसके वल पर साम्प्रदायिक या धर्मान्ध भाव से अन्य सव अनुभवों का विरोध करती है।" यही नहीं, पूर्ण योगाभ्यासी को तो इसके विरुद्ध समन्वय की साधना के अनुसार एक अधिक उत्कृष्ट कार्य करना होगा—"पूर्ण योग का साधक तव तक संतुष्ट नहीं होगा; जव तक वह इष्ट देवता के अन्य सभी नामों एवं रूपों को अपनी धारणा में समाविष्ट न कर ले, अन्य सभी देवों में अपने इष्ट-देव को न देख ले, सव अवतारों को उस भगवान की एकता में एकीभूत न कर ले जो अवतार में अवतरित होते हैं, तथा सभी शिक्षाओं में निहित सत्य को नित्य

ज्ञान के सामंजस्य में समन्वित न कर ले।

पूर्ण योग में गुरु "शिक्षण, दृष्टान्त तथा प्रभाव" से "शिष्य को शिष्य की प्रकृति के द्वारा ले चलेगा।" वह शिष्य पर कुछ आरोपित नहीं करेगा, किसी साधन को बन्धन नहीं बनाएगा तथा "उसका सम्पूर्ण कर्तव्य बस यही है कि दिव्य प्रकाश को उद्बुद्ध कर दिया जाए और उस दिव्य शक्ति की क्रिया को प्रारम्भ करा दिया जाए जिसका वह स्वयं एक माध्यम और सहायक" है। शिक्षण से दृष्टांत अधिक सशक्त है परन्तु 'प्रभाव' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और वही "गुरु का सर्वोत्कृष्ट लक्षण है क्योंकि सर्वोत्तम गुरु शिक्षक कम है, उपस्थित सत्ता अधिक है, जो दिव्य चेतना तथा उसकी अंगभूत प्रकाश, शक्ति, पवित्रता व आनन्द उन पर वर्षाता है जो उसके चतुर्दिक ग्रहणशील हैं।" गुरु होने का अनुचित अहंकारपूर्ण कार्य भी वह गुरु नहीं करेगा। वह विनम्रता से कार्य करेगा क्योंकि "वह एक मनुष्य है जो अपने भाइयों की सहायता कर रहा है···एक प्रवुद्ध आत्मा है जो दूसरों को प्रवुद्ध करता है, और अधिक से अधिक वह भगवान की एक शक्ति या उपस्थिति है, जो भगवान की अपनी शक्तियों का अपनी ओर आवाहन करती है।"

इन तीन साधनों के विवेचन के पश्चात काल के सम्बन्ध में श्री अरविन्द यही कहते हैं—"काल के सम्बन्ध में साधक की आदर्श मनोवृत्ति यह है कि वह अनन्त धैर्य रखे, यह समझते हुए कि अपनी परिपूर्णता के लिए उसके सामने अनन्त काल विद्यमान है। और फिर भी ऐसी शक्ति विकसित करे जो मानो अभी साक्षात्कार करा देगी" और फिर यह शक्ति लक्ष्य प्राप्ति तक बढ़ती जाए।

'आत्म निवेदन' में श्री अरविन्द ने बताया है कि साधक के लिए यह आवश्यक है कि "हम मन की उस केन्द्रीय श्रद्धा और दृष्टि को त्याग दें जिनके अनुसार यह एक चिर अभ्यस्त बहिर्मुखी संसार-व्यवस्था और घटना-क्रम में ही अपना विकास, सुख-सन्तोष और रस पाने में अपनी सारी शक्ति लगाए रखता है।" इसका स्थान लेगी "वह श्रद्धा और दृष्टि जो केवल भगवान को देखती और केवल भगवान को खोजती है।" यह भी आवश्यक है कि साधक की सम्पूर्ण सत्ता अर्थात् अन्तरात्मा, मन, इन्द्रियां, हृदय, इच्छा शक्ति, प्राण और शरीर भगवान को समर्पित हो जाएं और "अपनी सारी शक्तियों का अर्पण इतनी पूर्णता के साथ तथा ऐसी विधि से करना होगा कि वह भगवान का उपयुक्त वाहन बन जाए।"

पूर्ण योग में एकाग्रता भी सर्वग्राही होती है अर्थात् विचार, संकल्प और हृदय सभी भगवान पर एकाग्र हों। उदाहरणार्थ विचार अर्थात् "मन को एकमेव भगवान के विचार, बोध, दिव्य दर्शन, उद्बोधक स्पर्श और आत्म साक्षात्कार पर ही व्यापक, बहुमुखी किन्तु अनन्य भाव में एकाग्र होना चाहिए।" यह सत्य है कि भगवान को जाने बिना यह एकाग्रता कठिन है और श्रद्धा मन्द भी हो सकती है तथापि आत्म-निवेदन के प्रेरक विचार-बल की महानता ही साधक को उपलब्धि

कराएगी।

इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रथम भाग 'दिव्य कर्मों का योग' शीर्षक के अनुसार विचार को समर्पित है। दूसरा भाग है 'पूर्ण ज्ञान का योग' जिसके २८ अध्यायों में गम्भीर विचार-सामग्री सँजोयी गयी है। ये अध्याय हैं—

१. ज्ञान का लक्ष्य
२. ज्ञान की भूमिका
३. विशुद्ध बुद्धि
४. एकाग्रता
५. त्याग
६. ज्ञान-योग की साधन पद्धतियों का समन्वय
७. देह की दासता से मुक्ति
८. हृदय और मन के बंधन से मुक्ति
९. अहं से मुक्ति
१०. विश्वात्मा का साक्षात्कार
११. सच्चिदानन्द का साक्षात्कार
१२. मनोमय सत्ता की कठिनाइयां
१३. आत्मा की अभिव्यक्ति के प्रकार
१४. निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म
१५. विराट चेतना
१६. एकत्व
१७. पुरुष और प्रकृति
१८. पुरुष और उसकी मुक्ति
१९. हमारी सत्ता के स्तर
२०. निम्न त्रिविध पुरुष
२१. आत्म-अतिक्रमण की सीढ़ी
२२. विज्ञान
२३. विज्ञान-प्राप्ति की शर्तें
२४. विज्ञान और आनन्द
२५. उच्चतर और निम्नतर ब्रह्म
२६. समाधि
२७. हठयोग
२८. राजयोग।

श्री अरविन्द बताते हैं कि "शुद्ध ज्ञान योग बुद्धि के द्वारा ही साधित होता है यद्यपि इसकी परिणति बुद्धि और उसकी क्रियाओं के अतिक्रमण में ही होती है।" आध्यात्मिक ज्ञान परब्रह्म भगवान को विषय बनाकर चलता है। वह परब्रह्म आत्मा व्यक्ति से भी सम्बन्धित है और इस विश्व से भी और न तो विश्व ही वैसा है जैसा हमें दिखायी देता है, न व्यक्ति ही। हमें अपनी इन्द्रियों व मन से मिलने वाला उनका विवरण अपूर्ण है तथा उनमें परब्रह्म से विश्व व आत्मा-व्यक्ति के सम्बन्ध का कहीं आभास नहीं मिलता जबकि वही सत्य है।

योग समन्वय के तीसरे भाग का शीर्षक है 'भगवत्प्रेम का योग' और इसमें ८ अध्याय हैं—

१. प्रेम और त्रिमार्ग
२. भक्ति के हेतु
३. भगवन्मुख मार्ग
४. भक्ति का मार्ग
५. भागवत व्यक्तित्व
६. भगवान का आनन्द
७. आनन्द-ब्रह्म
८. प्रेम का रहस्य

चौथे भाग का शीर्षक है 'आत्मसिद्धि योग' और उसमें २५ अध्याय हैं—

१. पूर्ण योग का मूल सिद्धान्त
२. सर्वांगीण पूर्णता
३. आत्मपूर्णता का मनोविज्ञान
४. मानसिक सत्ता की पूर्णता
५. आत्मा के करण
६. शुद्धि—निम्नतर मन की शुद्धि
७. बुद्धि और संकल्प की शुद्धि
८. आत्मा की मुक्ति
९. प्रकृति की मुक्ति
१०. सिद्धि के मूल तत्त्व
११. समता की पूर्णता
१२. समता का मार्ग
१३. समता की क्रिया
१४. करणों की शक्ति
१५. आत्मशक्ति और चतुर्विध व्यक्तित्व
१६. भागवती शक्ति
१७. भागवत शक्ति की क्रिया
१८. श्रद्धा और शक्ति
१९. अतिमानस का स्वरूप
२०. अन्तःप्रज्ञात्मक मन
२१. अतिमानस के क्रमिक सोपान
२२. अतिमानसिक विचारशक्ति और ज्ञान
२३. अतिमानसिक करण-विचार-प्रक्रिया
२४. अतिमानसिक इन्द्रिय, तथा
२५. अतिमानसिक कालदृष्टि की ओर

श्री अरविन्द का योग समन्वयात्मक है, अतः उसमें किसी भी मार्ग से—प्रेम, ज्ञान या कर्म मार्ग से—प्रारम्भ किया जा सकता है किन्तु "प्रेम को यह छोड़ नहीं सकता। हां, यह अपना प्रारम्भ इससे नहीं करता, कारण प्रेम कर्मों का मुकुट और ज्ञान का प्रफुल है।"

श्री अरविन्द जिस पूर्ण योग की शिक्षा देते हैं, वह समन्वयात्मक है। 'पूर्ण योग का मूल सिद्धान्त' अध्याय में वे स्पष्ट कहते हैं—"हमारी मानव-सत्ता की किसी एक या सभी शक्तियों (करणों) को लेकर उन्हें भागवत सत्ता तक पहुंचने में साधन बना देना—यही योग का मूल सिद्धान्त है। एक साधारण योग में सत्ता की किसी एक मुख्य शक्ति (करण) या उसकी शक्तियों (करणों) के किसी एक समूह को साधन, वाहन या पथ बनाया जाता है। पर समन्वयात्मक योग में सभी शक्तियों (करणों) को एकत्र कर रूपान्तरकारी साधन-सामग्री में सम्मिलित कर लिया जाएगा।"

इस पूर्ण योग में धार्मिक आदर्श से कुछ साम्य होते हुए भी यह वैशिष्ट्य है कि यह उससे विशालतर है। धार्मिक आदर्श स्वर्ग और 'निर्वाण' की बात करता है परन्तु "पूर्ण योग अपना आधार इस धारणा पर रखता है कि आध्यात्मिक सत्ता एक सर्वव्यापक सत्ता है और उसकी पूर्णता, वास्तव में, अन्य लोकों में जाने से या अपनी जागतिक सत्ता का लय कर देने से नहीं प्राप्त होती अपितु हम आज अपने दृश्यमान रूप में जो कुछ हैं, उसमें से निकलकर उस सर्वव्यापक सत् की चेतना में विकसित होने से प्राप्त होती है जो हमारी सत्ता के सारतत्त्व में सदा ही हमारा निज स्वरूप है।" इस सर्वांगीण पूर्णता को पाने के लिए दो अनिवार्य शर्तें हैं—"विश्वातीत भगवान की ओर स्वयं को खोलना।" तथा "विश्वगत भगवान के

साथ स्वयं को एक करना।"

अतिमानस का स्वरूप बताते हुए श्री अरविन्द अतिमानस और मानव-मन का अन्तर बताते हुए अत्यन्त सरल भाषा में कहते हैं—"अतिमानस अपने निज सत्य का ज्ञाता और स्रष्टा है, मनुष्य का मन मिश्रित सत्य और भ्रांति के अर्द्ध प्रकाश और अर्द्ध-अंधकार में ही ज्ञान प्राप्त करता और सृजन करता है और एक ऐसी वस्तु का भी सृजन करता है जो उसे अपने से परे के किसी महत्तर तत्त्व से प्राप्त होती है, पर जिसे वह परिवर्तित और अनूदित करके हीन बना देता है।" यह अतिमानस "विश्वगत आत्मा की सक्रिय ज्योति और तपःशक्ति है जिसे हम योग में दिव्य प्रज्ञा और शक्ति के रूप में किंवा ईश्वर के सनातन ज्ञान एवं संकल्प के रूप में अनुभव करते हैं।"

ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में श्री अरविन्द अतिमानसिक काल-दृष्टि के गंभीर विषय पर प्रकाश डालते हैं। वे बताते हैं कि "भूत, वर्तमान और भविष्य का सच्चा और प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार चैत्य चेतना और चैत्य शक्तियों के उद्‌घाटन से प्रारम्भ होता है। किन्तु वे इन शक्तियों से भी आगे बढ़ने का सन्देश देते हैं। ज्ञानमय मन से, जो स्वयं विज्ञानमय अतिमानस से आलोकित होता है, आगे बढ़कर मन से अतिमानस में संक्रमण करना पूर्ण योग सिखाता है। "इस अवस्था में पहुंचने पर ही काल-चेतना एवं काल-ज्ञान में परिवर्तन आरम्भ होता है। पर यह काल-चेतना एवं काल-ज्ञान अपना आधार और अपनी सम्पूर्ण वास्तविकता एवं गूढ़ अर्थ अतिमानसिक स्तरों पर ही प्राप्त करता है।" अतिमानसिक प्रकृति की प्राप्ति अर्थात् दिव्य जीवन का प्रारम्भ कराने के लिए ज्ञानमय मन केवल एक सोपान है—"अन्तिम सोपान।"

इस प्रकार निस्सन्देह सम्पूर्ण ग्रन्थ ही गम्भीर एवं रोचक विषय-सामग्री से ओतप्रोत है।

३. भागवत मुहूर्त्त

श्री अरविन्द की पाण्डुलिपियों से संकलित सामग्री का एक रूप 'भागवत मुहूर्त्त' (दी आवर आफ़ गॉड) का प्रथम प्रकाशन १९५९ में हुआ था। इस लघु कृति में चार विभाग हैं—प्रथम में पांच प्रकरण हैं—'भागवत मुहूर्त्त', 'दीप्तियों की माता की स्तुति', 'स्वयंसिद्धियां', 'दिव्य अतिमानव' तथा 'मार्ग'। द्वितीय में तीन प्रकरण हैं—'योग का ताना-बाना', 'पूर्णयोग', 'अतिमानस-योग'। तृतीय में नौ प्रकरण हैं—'मनुष्य : एक मध्यवर्ती सत्ता', 'क्रमविकास', 'मनोविज्ञान', 'चेतना-मनोविज्ञान', 'कर्म की उलझन', 'अतिमानस', 'भागवत व्यवस्था', 'अतिमानस के सात सूर्य', 'बर्गसां पर टिप्पणी'। तथा चतुर्थ में केवल श्री अरविन्द के कुछ विचार सूक्ति रूप में 'गुरुवर की वाणी' के नाम से संकलित हैं।

'भागवत मुहूर्त्त' लेख में श्री अरविन्द ने उस समय को जब परमात्मा मानवों के बीच विचरण करते हैं, 'भागवत मुहूर्त्त' कहा है। इसका लाभ वे ही उठा सकते हैं जो पहले से तैयार हों। इस समय में थोड़ा-सा परिश्रम महान फलदायी होता है। अन्य समयों पर ऐसा नहीं होता। "अभागा है वह मनुष्य या राष्ट्र जो भागवत मुहूर्त्त के आने पर सोया पड़ा हो या उसका उपयोग करने के लिए तैयार न हो क्योंकि उसने उसके स्वागत के लिए दीप सँजो कर नहीं रखा है और उसकी पुकार के प्रति अपने कान बन्द कर रखे हैं।"

अन्य प्रकरणों में भी इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण विचार विकीर्ण हैं। परमात्मा तक पहुंचने के लिए कर्म का मार्ग चुना जा सकता है। यह बताते हुए उनके अत्यन्त सुन्दर शब्द 'स्वयंसिद्धियां' में उल्लेख्य हैं—"हो सकता है कि हम उन्हें भगवान के रूप में न जानें, हो सकता है कि हम उन्हें प्रकृति माता, अपने उच्चतर आत्मा, अनन्त सत्ता या किसी अनिर्वचनीय परम गंतव्य के रूप में जानें। इसी रूप में बुद्ध ने उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न किया था···एक नास्तिक भी उनके निकट पहुंच सकता है। भौतिकवादी के लिए वह भौतिक तत्त्व के अन्दर छिपे रहते हैं। 'शून्यता' के हृदय में छिपकर वह शून्यवादी की प्रतीक्षा करते हैं।"

'अतिमानव' में वे अतिमानव बनने का अर्थ बताते हैं—"दिव्य जीवन-यापन करना, देवता बन जाना, क्योंकि देवतागण भगवान की शक्तियां हैं। मनुष्यों के

बीच भगवान की एक शक्ति बनकर रहो।"

लक्ष्य-सिद्धि की कठिनता बताते हुए वे 'मार्ग' में कहते हैं—"भगवती माता का मुखमण्डल मनोरम है किन्तु वह भी कठोर और भयंकर हो सकती है। नहीं तो, क्या अमरत्व कोई खिलौना है जो बिना सोचे किसी बच्चे को दे दिया जाए अथवा क्या दिव्य जीवन कोई पुरस्कार है जो बिना प्रयास किए प्राप्त हो···यथार्थ रूप में प्रयास करो और तुम प्राप्त कर लोगे, विश्वास रखो और अन्त में तुम्हारा विश्वास सत्य सिद्ध होगा; किन्तु मार्ग का भयंकर विधान तो है ही और उसे कोई मिटा नहीं सकता।"

'योग का ताना-बाना' में बड़ी सरलता से वे गंभीर विचारों को समझाने का प्रयत्न करते हैं। योग क्या है ? "जो कुछ उच्चतम तत्त्व है उसके साथ अपनी सत्ता को सभी भावों में एक हो जाना ही है 'योग'।···समस्त प्रकृति और सभी जीवों के साथ एक हो जाना ही है योग।" आगे वे अद्वैतवाद आदि का स्वरूप सूत्र रूप में बताते हैं—'तादात्म्य' अद्वैत का, 'सम्बन्ध' द्वैत का और 'एक विशिष्ट तादात्म्य से अन्दर सम्बन्ध' विशिष्टाद्वैत का मूल सिद्धान्त है। परन्तु समग्र परि-पूर्णता आती है उस समय जब मूलगत उपलब्धियों में भगवान के साथ तादात्म्य और विश्व-अभिव्यक्ति अनुभव में उनके साथ पार्थक्य का सम्बन्ध एक साथ बना रहता है। "अन्यत्र वे योग की शक्तियां व उद्देश्य बताते हैं—"योग की चार शक्तियां और उद्देश्य हैं—पवित्रता, भक्ति, आनन्द और पूर्णता। जिसने भी अपनी सत्ता में परात्पर, विश्वात्मक, लीलात्मक और व्यष्टि रूप भगवान की इन चार महती शक्तियों का पूर्ण विकास साधित कर लिया है, वही पूर्ण योगी है।"

'अतिमानस' में वे अतिमानस के तीन स्तरों की चर्चा करते हैं—व्याख्या-मूलक, सादृश्यमूलक और प्रभुत्वमूलक। 'भागवत व्यवस्था' में वे सर्वोच्च आत्म-समाहित परात्पर का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

प्रथम परात्पर	तत्
द्वितीय परात्पर	सत्
तृतीय परात्पर	चित् अर्थात् भगवती माता
चतुर्थ परात्पर	गीता के परमेश्वर या तंत्र की परमेश्वरी।

विश्व-अभिव्यक्ति समझाते हुए वे आध्यात्मिक आद्या महाशक्ति से सत्यलोक, चैत्यलोक, तपोलोक, तथा आनन्दलोक और उनसे दिव्य विज्ञान और फिर शाश्वत-कालात्मक अभिव्यक्ति का उल्लेख करते हैं। अनन्त चेतना के सर्वोच्च लोक बताते हुए वे सत् चित्, आनन्द के उपरान्त अतिमानस या दिव्य विज्ञान और फिर अधिमानस या माया का नाम लेते हैं और मनपर्यन्त आद्यमानस चेतना की सोपान-परम्परा इस प्रकार बताते हैं—अधिमानसिक दिव्य ज्ञान से मूल अधिमानस,

उससे रचनात्मिकामाया, अधिमानस शब्द ब्रह्म तथा अन्तःप्रज्ञात्मक अधिमानस और अन्तःप्रज्ञात्मक अधिमानस से उच्चतम मन, उससे प्रबुद्ध मन उससे अन्तः-प्रज्ञात्मक मन, उससे मुक्त बुद्धि, उससे मानव मन, उससे विचारात्मक बुद्धि और उससे क्रियात्मक बुद्धि व बाह्य रूप प्रदान करने वाली बुद्धि और उससे प्राणात्मक मन और उससे भौतिक मन की रचना बताते हैं। फिर निम्नतर सृष्टि में भौतिक मन से प्राण व उससे जड़तत्त्व अर्थात् शरीर की उत्पत्ति। 'अतिमानस के सात सूर्य' में वे सप्त चक्रों का सम्बन्ध अतिमानस के विभिन्न अवतरणों से जोड़ते हैं।

४. योग और उसका उद्देश्य

श्री अरविन्द की कृति 'योग और उसका उद्देश्य' ३३ पृष्ठों का निवन्ध है जिसका प्रकाशन १९२१ में हुआ था। इसमें श्री अरविन्द ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। निवन्ध का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है—"जिस योग का हम अध्ययन करते हैं वह केवल हमारे लिए नहीं है अपितु भगवान के लिए ही है। इसका उद्देश्य जगत में भगवान की इच्छा को क्रियान्वित करना है, आध्यात्मिक रूपान्तरण करना है और मानसिक, प्राणिक व भौतिक प्रकृति तथा मानव-जीवन में दिव्य प्रकृति तथा दिव्य जीवन को अवतरित करना है। इसका उद्देश्य निजी मुक्ति नहीं है···।" श्री अरविन्द के योग में निजी मुक्ति पाना उद्देश्य नहीं है, क्योंकि आत्मा तो नित्य मुक्त ही है। जगत भगवान की लीला है और "बुद्धिमानी वही है जो इस सत्य को पहचान ले, और अपनी स्वतन्त्रता है, यह जानकर भी, भगवान का खेल खेलता रहे—खेल की विधियों को वदलने के लिए उसके आदेश की प्रतीक्षा करते हुए।"

श्री अरविन्द के अनुसार परमात्मा के आदेश का क्षण आ गया है—"अव आदेश है। परमात्मा अपने लिए सदैव एक देश चुन लेता है जिसमें समस्त संयोगों और संकटों में से होकर थोड़े या वहुतों के द्वारा, उच्चतर ज्ञान को अखण्ड रूप से धारण किया जाता है और आज तो, कम से कम इस चतुर्युगी में, वह देश भारतवर्ष है।" जव भगवान काली की लीला करना चाहता है अर्थात् अज्ञानादि का पूर्ण आनन्द लेना चाहता है तव "वह भारत में ज्ञान को धीमा कर देता है और भारत को दुर्वल व पतित कर देता है जिससे वह आत्मस्थ हो और परमात्मा की लीला में वाधक न वने" और जव दूसरे प्रकार की लीला करता है तो भारत को ज्ञानसंपन्न करके उठा देता है। भारत के योगी भी तदनुसार ही साधना का रूप वदल देते हैं—आवश्यकतानुसार अपने मोक्ष या आनन्द के लिए अथवा विश्व के लिए।

परमात्मा की लीला चक्राकार चलती है। 'सतयुग' जगत में समन्वय का काल है। इस काल में मनुष्य अपनी पूर्णता—कुछ विशेष परिस्थितियों व सीमाओं में—अनुभव करता है। सतयुग का समन्वय 'पवित्रता से प्रकट स्वाभाविक समन्वय है।

कुछ पतन होने पर 'त्रेतायुग' आता है जब मनुष्य व्यष्टिगत या समष्टिगत इच्छा-शक्ति से समन्वय बनाए रखता है। कुछ और पतन होने पर 'द्वापर युग' आता है। जब मनुष्य बौद्धिक नियमों, जन-सहमति व शासन से समन्वय बनाए रखता है। किंतु 'कलियुग' में समन्वय ढह जाता है। वही युग आज चल रहा है। इस समय विश्व में मानव-स्वभाव को पूर्ण बनाने के लिए अनेक विचार वर्तमान हैं जिनका समन्वय करने से ही पुनः 'सतयुग' लाना सम्भव होगा।

यह समन्वय भारत में ही संभव है। इस समन्वय के लिए हृदय, मन और कर्म का पूर्ण परिवर्तन करना होगा, इसे केवल पूर्ण योग से ही किया जा सकता है। इसके लिए हठयोग व राजयोग से हटकर अध्यात्मयोग की साधना करनी होगी। अध्यात्मयोग में 'सब कुछ भगवान ही है' की अनुभूति करनी होगी तथा परात्पर पुरुष को पूर्ण आत्मसमर्पण करना होगा। पूर्ण समर्पण करने में अहंकार को मिटा देना होगा।

श्री अरविन्द ने अपने अध्यात्म-योग को बड़े विस्तार से समझाया है और उसकी साधना में क्या-क्या करना होगा, यह अत्यन्त सरस विधि से बताया है। सबसे पहले इसमें बिना किसी फल की कामना के आत्मसमर्पण का संकल्प करना होगा। तत्पश्चात् स्वयं तटस्थ दर्शक बनकर भागवत शक्ति को अपने अन्दर कार्य करते हुए दिखाना होगा। तीसरा पग है सर्वत्र जड़ व चेतन में भगवान का ही दर्शन करना, यहां तक कि भगवान में ही सभी घटनाओं, विचारों व भावनाओं का भी दर्शन करना।

इस निबन्ध में श्री अरविन्द ने मायावाद की समीक्षा करते हुए कहा है कि आचार्य शंकर ने सत्य के एक रूप मात्र 'माया' पर इसलिए आग्रह किया क्योंकि यह उन्हें अधिक स्पष्टता से अनुभव में आई थी, किन्तु 'लीला' का विचार 'माया' से भी महान है। उनकी एक सुन्दर उक्ति है—"स्मरण रखो कि एकांगी दर्शन सदैव ही सत्य के आंशिक कथन मात्र हैं...। जैसे सर्वोत्तम धर्म वह है जो सभी धर्मों के सत्य को स्वीकारे वैसे ही सर्वोत्तम दर्शन वह है जो सभी दर्शनों के सत्य को स्वीकारे और प्रत्येक को उसका उचित स्थान दे।"

श्री अरविन्द विविध धर्मों का उल्लेख करते हुए एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—"इन दृष्टिकोणों के विषय में विवाद से कोई लाभ नहीं है। परमात्मा का दर्शन करके, स्वयं को व उसको जानने तक प्रतीक्षा करो और तब वाद-विवाद व चर्चा स्वयं व्यर्थ हो जाएंगे।" आवश्यकता है आत्मा की शक्ति और पवित्रीकरण की, परन्तु चर्चों, 'धर्म-संघों, दर्शनों आदि ने चिन्ता की है बौद्धिक सिद्धान्तों, कर्म-काण्डों अर्थात् 'आचरण-शुद्धि' व 'दर्शन' की और इसलिए वे मानव जाति की रक्षा नहीं कर सके। ईसा के पवित्रता के सिद्धान्त, मोहम्मद के समर्पण-सिद्धान्त, चैतन्य के प्रेम-सिद्धान्त, तथा रामकृष्ण के सर्वधर्म एकता तथा मानव में परमात्मा की

दिव्यता के सिद्धान्त की धाराओं को समन्वित कर सतयुग की पुनः स्थापना हो सकती है।" किन्तु यह भी योग या लीला का पूरा उद्देश्य नहीं है। "अवतारों का अवतरण होता है मानव को उच्चतर करते-करते उच्चतम बनाने के लिए और इस योग का भी वही उद्देश्य है—"इस भौतिक विश्व में सच्चिदानन्द को भी यहां सर्वत्र पूर्णतया प्रतिष्ठित कर देना।"

५. विकास

१६२१ में प्रथम वार प्रकाशित 'विकास' (ईवोल्यूशन) के २८५ पृष्ठों में तीन निवन्ध हैं—'विकास', 'निश्चेतन' तथा' जड़वाद'।

श्री अरविन्द ने 'विकास' निवन्ध का प्रारंभ वैज्ञानिक विकासवादी सिद्धान्त को संक्षेप में प्रस्तुत कर, कभी उसके भारी प्रभाव रहने किन्तु अव उस पर प्रश्न-चिन्ह लगने के उल्लेख से किया है। विकासवाद के अनेक महत्त्वपूर्ण आधार अव प्रायः ध्वस्त हो गए हैं। उदाहरणार्थ, जीवन-संघर्ष का विचार। वंशानुक्रम-संवंधी विचारों में भी नए गवेषकों का मत यही है कि किसी व्यक्ति द्वारा प्राप्त विशेषताएं उसकी सन्तति को नहीं मिलतीं अपितु प्रवृत्तियां ही उत्तराधिकार में मिलती हैं। और ऐसी अनेक खोजों व परिणामों के फलस्वरूप यह देखा जा सकता है कि भविष्य के अधिक जटिल चिन्तन से अपना अन्तर कम करने के लिए विकासवाद के सिद्धान्त में भारी परिवर्तन होने की आवश्यकता है।

विकासवाद में अनेक दोष हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम दोष है—प्रकृति की उद्देश्यहीनता को मानना। दूसरा दोष है— मन, प्राण और चेतना की उत्पत्ति चेतन आत्मतत्त्व से हीन जड़तत्त्व से मानना। तीसरा दोष है-- भौतिक आवश्य-कता की पूर्वापर श्रृंखला को स्वीकार करना जिसके अनुसार "सव कुछ अभि-व्यक्ति है जो किसी पूर्व अभिव्यक्ति का तर्कसंगत फल है।" चौथा दोष है—मुख्य-तया एक सीधी रेखा में क्रमशः प्रगति का विचार मानना। श्री अरविन्द ने इन दोषों का संक्षिप्त विवेचन भी किया है और अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा है—"इस प्रकार विकास का पूरा दृष्टिकोण ही परिवर्तित होने लगता है। प्रकृति-शक्ति के द्वारा निर्विशेष जड़तत्त्व से एक यांत्रिक, क्रमिक, कठोर विकास के स्थान पर हम एक सचेतन, आज्ञाकारी, लचीले, अत्यधिक आश्चर्यजनक और अनवरत नाटकीय विकास की ओर मुड़ते हैं।"

दूसरे निवन्ध 'निश्चेतन' में श्री अरविन्द ने कहा है कि "सभी विज्ञान, सभी सत्यज्ञान, की प्राप्ति आभासी रूपों के पृष्ठ में जाने तथा आन्तरिक सत्य व गुप्त नियम का अन्वेषण करने से होती है।" भौतिक विज्ञान आदि में इस सत्य को मान लिया गया है। "तो भी इस भ्रमों के संसार में मन और इन्द्रियां संतुष्ट व

आश्वस्त होकर रह सकते हैं और उन्हें व्यावहारिक सत्य के रूप में मान सकते हैं—क्योंकि कुछ सीमा तक वे ही व्यावहारिक सत्य हैं और प्रारंभिक, सामान्य व सीमित सक्रियता के लिए पर्याप्त भी।" किन्तु "एक सीमा तक ही", अधिक नहीं। नए मनोविज्ञान ने मन के क्षेत्र में, पुराने मनोविज्ञान के द्वारा जड़तत्त्व के क्षेत्र में विज्ञान द्वारा अपनाई गई पद्धति की सदृशता के अनुसार, वर्गीकरण आदि की पद्धति इसी कारण त्याग दी है। नया मनोविज्ञान भी कुछ त्रुटियों से युक्त है यथा—जड़वादी त्रुटि जो मन के अध्ययन को शरीर के अध्ययन पर आधारित करती है, संशयवादी त्रुटि जो हमारी व्यक्तिपरक सत्ता के गुप्त गंभीर सत्यों के साहसपूर्ण व स्पष्ट अन्वेषण में बाधक है; रूढ़िवादी अविश्वास तथा झिझक की त्रुटि जो किसी व्यक्तिपरक अवस्था या अनुभव को जो हमारे मानसिक व चैत्य प्रकृति के सामान्य व्यापारों से भिन्न होता है, विकृति या विभ्रम मानती है··· अन्ततः वस्तुनिष्ठता की त्रुटि जिससे मनोवैज्ञानिक अन्यों का बाह्यतः अध्ययन करता है, इसके स्थान पर कि वह ज्ञान के अपने सत्य क्षेत्र को तथा स्वयं में प्रयोगशाला को देखे।" इस प्रकार श्री अरविन्द मनोविज्ञान का व्यक्तिपरक विज्ञान-रूप सिद्ध करते हैं।

श्री अरविन्द आगे बताते हैं कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययन व प्रयोगों ने जो दो विभिन्न मार्ग अपनाए हैं, उनका समन्वय नहीं हो सका है। "पहला मार्ग है निश्चेतन जड़तत्त्व में सक्रिय निश्चेतन बल का अध्ययन करने वाले भौतिक विज्ञानों" पर आधारित मनोवैज्ञानिक अध्ययन, जिसने मन को स्नायविक प्रतिक्रियाओं का परिणाम मात्र, अभिलेख मात्र माना है। चेतन से निश्चेतन को कहीं अधिक शक्तिशाली मानने वाले इस चिंतन ने मन को प्रकृति के प्रति विद्रोही आदि घोषित किया है। दूसरा मार्ग है आत्मिक अनुसंधान, सम्मोहनविद्या, मेस्मेरिज्म व गुह्य विद्याओं का, जिसके परिणामों ने हमारे जागृत मन के पीछे एक अधिक सामर्थ्यवान आन्तरिक मन की सत्ता का संकेत दिया है। इस दिशा में कार्य करते हुए यह निष्कर्ष भी निकलता है कि चेतना ही चेतना सर्वत्र विभिन्न रूपों में व्याप्त है तथा अवचेतन मन आदि वस्तुतः चेतना के एक विशेष रूप ही हैं। इसी निष्कर्ष पर प्राचीन भारतीय ऋषि पहुंचे थे कि ऊपरी रूप से दिखने वाला 'व्यक्ति' वस्तुतः अपने यथार्थ रूप में कुछ और ही है। ऐतरेय उपनिषद् व तैत्तिरीय उपनिषद् में इसकी चर्चा देखी जा सकती है। तदनन्तर श्री अरविन्द यह बताते हैं कि प्राचीन मनोविज्ञान में चेतना न कि जड़त्व ही मूलतत्त्व स्वीकृत है और यह ज्ञान वेद में भी सुरक्षित है—"तिथिरहित वैदिक मंत्रों में भी यह ज्ञान पहले से ही है और वैदिक ऋषि भी इसे उन प्राचीनतर ऋषियों की खोज घोषित करते हैं जिनके सामने वे स्वयं नवीन और आधुनिक हैं। तिरोभाव के काल खण्डों, मानवता पर छा जाने वाली अज्ञान-रात्रियों से निकलकर हम सदा ही यह मान लेते हैं कि हम एक नया

ज्ञान स्थापित कर रहे हैं। वस्तुतः हम निरन्तर ज्ञान की पुनः खोज ही करते रहते हैं और पहले बीते हुए युगों की उपलब्धियों को ही दोहराते रहते हैं···।" मानवता इसी प्रकार नयी-नयी यात्रा पर चलती रहती है जिसका लक्ष्य 'सर्वोच्च शिवम्' ही हो सकता है। अब "मनुष्य जो एक मानसिक सत्ता है···प्रतीयमान मनुष्य के स्थान पर यथार्थ मनुष्य बनने के लिए प्रयत्नशील होगा ही।" इस महान् लक्ष्य की प्राप्ति में मानव-चेतना स्वयं समर्थ है या नहीं, यही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

तीसरे निबन्ध 'जड़वाद' में श्री अरविन्द ने जड़वाद की अनेक प्रकार से की गई आलोचना व निन्दा का उल्लेख करते हुए उससे होने वाले लाभों की चर्चा की है। "जड़वाद उतना मृत नहीं है जितना अधिकांश लोग घोषित करते हैं; अभी भी वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं की बड़ी संख्या उसे मानती है, संभवतः बहुमत ही, और वैज्ञानिक मत सदा ही एक बल होता है दो कारणों से—सुनिश्चित सत्य की शक्ति से, तथा मानवता की सतत सेवा से···किन्तु यह तेज़ी से प्रभावहीन होता जा रहा है···इसे विदा करने से पूर्व यह लाभप्रद होता कि हम···यह देखें कि इसको शक्ति किस बात से मिली है और इसने स्थायी रूप से क्या दिया है और अपने दृष्टिकोणों को इसमें निहित तथा इसे व्यावहारिक बनाने वालों को यत्किंचित सत्य के अनुरूप व्यवस्थित करें।" जड़वाद के प्रभाव से ज्ञान की वृद्धि हुई है, अन्वेषण में अधिक धैर्य, अधिक विशुद्धता आई है। भले ही बहुत से दोषों के साथ परन्तु बहुत से गुणों के साथ। इसके द्वारा अनेक अन्वेषण, आविष्कार इत्यादि हमें मिले हैं। इसने मानवजाति को आशा दी है और मानवीय गुणों जैसे सहिष्णुता, स्वतंत्रता उदारता आदि को बढ़ाया है। तर्क, विज्ञान, प्रगति, स्वतन्त्रता, मानवता आदि के आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। और वस्तुतः इस "जड़ यज्ञ ने हमें एक महत्तर धर्म के लिए तैयार किया है।"

श्री अरविन्द तर्क को परमप्रकाश नहीं मानते किन्तु वह प्रकाशमय तो है ही और सामान्य मानव की भावनाओं, आवेगों, विश्वासों, निर्णयों आदि के विवेचन में उसका अत्यधिक उपयोग भी है। भौतिक क्षेत्र में ही उसका अभी तक अधिक उपयोग हुआ है, मानसिक और चैत्यपरक ज्ञान के लिए उसका उपयोग करने का समय आ गया है।

मानव-जीवन में प्रगति का अर्थ है अधिकाधिक विकास और काफी बाह्य प्रगति के पश्चात् अब अन्तःप्रगति की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता महान् है किन्तु बाह्य स्वतन्त्रता से अधिक महान् आन्तरिक स्वतन्त्रता है और फिर भी आन्तरिक स्वतन्त्रता से पूर्व बाह्य स्वतन्त्रता आवश्यक है। "मानवता सर्वोच्च देव नहीं है; परमात्मा मानवता से बड़ा है, परन्तु मानवता में भी हमें परमात्मा का दर्शन करना तथा उसकी सेवा करनी होगी।" और मानवता के विकास में अधिक दया, अधिक सहिष्णुता, अधिक एकता आदि की जड़वादी युग में वृद्धि ही हुई है। यह सत्य है

कि मानवता के ये बीज धर्म के द्वारा ही दिए हुए थे किन्तु धार्मिक सम्प्रदायों के भीषण दोषों यथा अधिक व्यक्तिवादिता, सम्प्रदायहित में अत्याचारिता, संन्यासत्व की अधिकता, मानव-जीवन की व्यर्थता तथा परलोक की महत्ता देखने वाली दृष्टि आदि के कारण संतुलन बनाने के लिए धर्मनिरपेक्षता का लम्बा कालखण्ड आवश्यक हो गया था। और "बौद्धिक स्पष्टता, तर्क, न्याय, सहिष्णुता, मानवता पर आग्रह करने" तथा पार्थिव जीवन की प्रगति करने (न कि कयामत के दिन तक प्रतीक्षा करते रहने) पर बल देने के कारण जड़वाद ने अति उपयोगी कार्य किया। "मानव मन के पृथ्वी-अभिमुखी और मानवीय घुमाव के लिए चरम बौद्धिक परिणाम ही जड़वाद था।" मानव का चरम पार्थिव विकास उसकी पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक प्रारम्भिक बात है। जब-जब वह यह भूल जाता है तब-तब काल-पुरुष उसे ऐसे झटके देकर ही पृथ्वी पर ला टिकाता है। उपनिषद् के ऋषियों ने इस सत्य को पहचान कर ही "अन्न (जड़तत्त्व) ब्रह्म है" इत्यादि कहा था।

धर्मनिरपेक्ष शताब्दियों के तीन प्रभाव बने रहेंगे—भौतिक विश्व की सत्यता व उसका महत्त्व, ज्ञान की वैज्ञानिक विधि तथा पृथ्वी पर जीवन व विकासवादी मानव-प्रयत्न का महत्त्व। "वे बने रहेंगे किन्तु दूसरे भाव की ओर मुड़ जाएंगे तथा महत्तर विषयों का रहस्योद्घाटन करेंगे।"

६. इस विश्व की पहेली

श्री अरविन्द कृत 'इस विश्व की पहेली' (दी रिडिल आफ दी यूनीवर्स) उनके १६३०-३१ में लिखे गए अठारह लेखों का संग्रह है। ये प्रायः शिष्यों एवं अन्य जिज्ञासुओं के प्रश्नों के उत्तर के रूप में या सम्पत्यर्थ आए पत्रों की समीक्षा के रूप में लिखे गए थे। इन लेखों में उनके महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है, जैसा कि हम आगे की पंक्तियों में पढ़ेंगे।

१. एक महत्तर सत्य

इस लेख में श्री अरविन्द ने बताया है कि विज्ञानमय लोक से नीचे के सभी सत्य अपूर्ण हैं। अतः वे विश्व का पूर्णरूपेण परिवर्तन अर्थात् दिव्य जीवन की स्थापना नहीं कर सकते। यह तो पृथ्वी पर विज्ञानमयी चेतना के उतरने से ही होगा। श्री अरविन्द के अनुसार विज्ञान (अर्थात् सुपरमाइण्ड) वह सत्य है, ऋत और वृहत् है जिसको वैदिक ऋषियों ने प्राप्त किया और उसका वर्णन भी किया है। परन्तु पृथ्वी पर उसे उतारने का उद्देश्य कभी किसी ऋषि का नहीं रहा। यह उद्देश्य श्री अरविन्द के योग का ही है। इस विषय में बौद्धिक वाद-विवाद को श्री अरविन्द ने व्यर्थ प्रयास बताया है।

हमारी बुद्धि इस बात को ज़रा भी नहीं समझ सकती कि विज्ञान क्या है और बुद्धि के द्वारा तर्क-वितर्क करने से क्या लाभ, जिसे वह जानती ही नहीं ? तर्क-वितर्क के द्वारा नहीं, वल्कि सतत अनुभूति के द्वारा, चेतना के विकास तथा ज्योति के अन्दर उसके प्रसारण के द्वारा ही हम बुद्धि के परे अवस्थित चेतना के उन उच्चतर स्तरों में पहुंच सकते हैं, जहां से हम भागवत प्रज्ञा को देखना आरम्भ कर सकते हैं।

२. परतत्ववर्ग

इसमें श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया है कि आध्यात्मिक और रहस्यमय ज्ञान की विभिन्न प्रणालियों में एक ही विषय वर्णित है। पर प्रणालियों में यह अन्तर द्रष्टा की मानसिक भाव-विभिन्नता के कारण है। प्राचीन भारतीय प्रणाली एक परतत्त्व

मानती है जो सत्, चित् तथा आनन्दमय है। इन तीनों के पृथक् लोक हैं और विज्ञान चौथा लोक है और ये चारों परार्ध में ही हैं। लोक का अर्थ है चेतना का स्तर। विज्ञान ही अतिमानस या भागवत प्रज्ञा (सुपरमाइंड) भी कहा जाता है। अधिमानस (ओवरमाइंड) अपरार्ध में सर्वोच्च है और उसमें होकर ही विज्ञान और उससे परे सच्चिदानन्द के लोकों में पहुंचा जा सकता है। साधक को पहले अन्तर्मुखी परिवर्तन करके हृदय के केन्द्र में विराजमान 'हृत्पुरुष' को प्राप्त करना चाहिए, सामने लाना चाहिए। इसके लिए अपने भीतर प्रवेश करना होगा। और जव ऐसा हो जाए तो भागवत चेतना में पहुंचने के लिए चेतना के एक-एक स्तर को पार करना चाहिए। वुद्धि से परे मन लोक है। उससे होकर संवोधि-चेतना में पहुंचना चाहिए। तब हम प्रत्येक वस्तु को वुद्धि के यन्त्र से नहीं अपितु एक अधिक ऊंचे सहज ज्ञानमय संकल्प, अनुभव, भाव, वेदन और शारीरिक स्पर्श के द्वारा देखना, समझना आरम्भ करते हैं। उसके ऊपर अधिमानस चेतना में पहुंचने पर अधिमानस संकल्प, अनुभव आदि के द्वारा देखना व अनुभव करना संभव होता है। अन्त में प्रकृति को विज्ञानमयी वनाया जाना चाहिए ताकि अज्ञान के परे पहुंचा जा सके। उसके वाद दिव्य प्रगति होती रहती है परन्तु चेतना के और किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

३. लोक संस्थान-क्रम

इस लेख में लोकों अर्थात् चेतना के विभिन्न स्तरों का क्रम वताया गया है। उनकी कार्य-पद्धति पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। अधिक ऊंचे लोक अपने से नीचे वाले लोकों पर अपनी प्रवृत्तियों, गतियों, शक्तियों और सत्ताओं के अनुरूप रचना करने के लिए प्रभाव डालते हैं। अधिक नीचे वाले लोक अपने से ऊंचे लोकों पर प्रतिक्रिया करते हैं। यही नहीं, नीचे वाले लोक अपने अन्दर अपने निजी नियम के अनुसार एक ऐसी चीज़ विकसित या अभिव्यक्त करते हैं जो उनसे उच्चतर शक्ति और उस शक्ति की क्रिया के अनुरूप होती है। श्री अरविन्द के शव्दों में "इस जड़-तत्त्व के जगत ने प्राणमय लोक के प्रभाव से प्रेरित होकर प्राण का और मनोमय लोक के प्रभाव से प्रेरित होकर मन का विकास किया है। अव यह विज्ञान-लोक के प्रभाव से प्रेरित होकर विज्ञान का विकास करने का प्रयास कर रहा है।"

प्रत्येक लोक ऊपर-नीचे के लोकों से सम्वन्धित है। फिर भी प्रत्येक लोक एक स्वतन्त्र जगत है और उसकी अपनी गतियां, शक्तियां, सत्ताएं, वर्ग और रूप हैं जो मानो उसी के लिए हैं। हां, यदि किती प्राणमय आदि सूक्ष्म लोक में कुछ होता है तो उसका प्रभाव जड़-जगत में एकदम नहीं हो जाता। उस समय तो केवल एक अभिव्यक्ति की सम्भावना ही उत्पन्न होती है। इसका लाभ तभी उठाया जा सकता है जव उससे सम्वन्ध स्थापित करते वाली कोई पुकार अर्थात् शक्ति या

कोई व्यक्ति इस जगत में हो जो उसे अपने अन्दर उतार लाने की पात्रता दिखाए। यह लाभ तब भी उठाया जा सकता है जब कोई उच्चतर प्रेरणा उसके लिए दवाव डाले अथवा ऐसी ही कुछ और परिस्थितियाँ हों। यदि ऐसी परिस्थितियों का सम्मिलित प्रभाव पड़े तब एक सफल सृष्टि की अभिव्यक्ति की अत्यधिक संभावना हो जाती है। और इस लोक के प्रभाव से पृथ्वी पर होने वाले परिवर्तन यद्यपि उस लोक के सदृश दिखाई देते हैं, पर वस्तुतः जो कुछ अभिव्यक्त होता है, वह एक बिलकुल नयी चीज़ होता है और इसीसे उस सृष्टि की सार्थकता है। उदाहरणार्थ, भला पृथ्वी पर विज्ञानमयी सृष्टि की क्या उपयोगिता हो सकती है, यदि यह ठीक वही चीज़ हो तो चीज़ विज्ञानमय लोक में विज्ञानमय सृष्टि है। इसे एक नया आविष्कार ही कहना होगा जो उन अवस्थाओं में कहीं और नहीं है।

इस स्थूल भौतिक लोक से परे किन्तु समीप ही सूक्ष्म भौतिक लोक है। दोनों में बहुत अन्तर है। "उदाहरणार्थ, सूक्ष्म भौतिक लोक में एक प्रकार की स्वतन्त्रता, नमनीयता, तीव्रता, शक्ति, वर्ण और विशाल तथा बहुमुखी क्रीड़ा है। वहां हज़ारों चीज़ें ऐसी हैं जो यहां नहीं हैं जिनके होने की अभी तक इस पृथ्वी पर कोई संभावना नहीं है।"

४. आरोहण और अवरोहण की गति

इस लेख में बताया गया है कि मनुष्य के अन्दर प्राणमय सत्ता है और उसमें प्राणशक्ति है। ये दोनों दिव्य ज्योति से रहित हैं और इस कारण वे दैवी और आसुरी शक्तियों में से किसी के भी यन्त्र बन सकते हैं। इस जगत में भगवती शक्ति को जो कार्य कराना होता है, प्राणशक्ति के माध्यम से ही करती है। साधारणतया प्राणशक्ति मन व प्राण की सामान्य भावनाओं, स्वार्थों, वासनाओं आदि से प्रेरित होती है परन्तु वह चाहे तो अपनी सीमा तोड़ सकती है और प्रचण्ड होकर ऐसी क्षमता वाली हो सकती है कि देवशक्ति या असुर-शक्ति या दोनों का यन्त्र बन जाए। उसे भगवान के शासन में ले आने पर ही अर्थात् भागवती शक्ति से युक्त कर देना ही ठीक मार्ग है। इसके लिए दो गतियां हैं—एक ऊपर की ओर, दूसरी नीचे की ओर। प्राणशक्ति का उच्चतर चेतना के साथ युक्त होने के लिए ऊपर उठना ही 'आरोहण' है और भागवती शक्ति की उच्चतर चेतना उसमें उतर कर उसे अपने सच्चे स्वरूप में परिवर्तित करे तथा उसे ज्ञान व बल दे, यह है अवरोहण या अवतार। दोनों आवश्यक हैं।

५. पाश्चात्य दर्शन और योग

इस लेख में पाश्चात्य दार्शनिक विचार की सीमा और त्रुटि बताकर योग की विशेषता पर प्रकाश डाला गया है। यूरोपीय दार्शनिकों के तत्त्व-चिन्तन में बुद्धि

को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है और बुद्धि की सीमा ही यूरोपीय दार्शनिक की सीमा है। "परन्तु यह बुद्धि परम सत्य को कभी नहीं जान सकती। वह तो सत्य की खोज में केवल इधर-उधर भटक सकती है। और स्वयं सत्य वस्तु को नहीं वरन उसके खण्ड प्रतिरूपों को पकड़ सकती है तथा उन्हें एक साथ जोड़ने की चेष्टा कर सकती है।" अतः यह स्पष्ट है कि "केवल बुद्धि के द्वारा परम सत्य की चाहे कितनी प्रकार की खोजें हों, उसका पर्यवसान या तो इसी प्रकार के अज्ञेयवाद में होगा अथवा किसी वौद्धिक दर्शनशास्त्र या मनःकल्पित सिद्धान्त में होगा। निस्सन्देह अव तक ऐसे सैकड़ों दर्शनशास्त्र और सिद्धान्त वने हैं और वनेंगे पर उनमें से अन्तिम तो किसी को नहीं माना जा सकता। ये सभी दार्शनिक निर्णय अनुमान मात्र हैं, उनका आध्यात्मिक मूल्य तो कुछ भी नहीं है। हां, मन और बुद्धि के व्यायाम के लिए वे अच्छे हैं। "यूरोपीय मन के आत्यन्तिक वुद्धिवाद ने जो चीज़ खो दी है वह है अध्यात्म मार्ग, जो वौद्धिक स्तरों से परे ही ले जाता है, वाह्य सत्ता से अन्तरतम आत्मा में पहुंचा देता है।" ये दार्शनिक विचार "बुद्धि के क्षेत्र में ही आवद्ध हैं और उस क्षेत्र के अन्दर निस्सन्देह ये प्रशंसनीय हैं। परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के लिए इनसे कोई शक्ति नहीं मिल सकती।"

यूरोप में बुद्धिवाद इतना वढ़ा है कि वहां "आध्यात्मिक अनुभव भी तभी प्रामाणिक माना जा सकता है जव वह बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरे और यह ठीक भारतीय भावना के विपरीत है।" भारत में तो सत्य की खोज में सर्वोच्च स्थान मानसिक चिन्तन का नहीं, आध्यात्मिक अनुभूति (जिसे संवोधि या ज्ञान ज्योति भी कहते हैं) का रहा है और "जो वौद्धिक निर्णय इस परम प्रमाण का विरोधी हो, उसे अप्रामाणिक ही माना गया है।" भारत में तो तर्क से प्रारम्भ करने वाला साधक भी यह जानता है कि उसे मन व बुद्धि से परे की चेतना को प्राप्त करना है। यहां तो "प्रत्येक दर्शन के प्रवर्तक (तथा उनके कार्य या मत को चलाने वाले आचार्य भी) एक साथ ही जैसे दार्शनिक थे, वैसे ही योगी भी थे। कोरे दार्शनिक विद्वानों की विद्वत्ता का तो आदर किया गया, पर उन्हें सत्य-द्रष्टा नहीं माना गया।" और जिन दर्शनों में आध्यात्मिक अनुभूतियां पर्याप्त और शक्तिशाली साधन नहीं थीं, वे लुप्त हो गए और भूतकाल की वस्तु वन गए क्योंकि उनमें आध्यात्मिक आविष्कार और उपलब्धि कराने की शक्ति नहीं थी।"

योग का लक्ष्य है अज्ञान से ज्ञान में पहुंचना अर्थात् मन, प्राण और शरीर का रूप-परिवर्तन कर उन्हें दिव्य करना। इसके लिए भी मात्र 'सत्' वस्तु का विचार पर्याप्त नहीं हो सकता। इसके लिए तो चेतना का परिवर्तन अनिवार्य है। यही भारतीय योग का लक्ष्य है।

६. अज्ञेयवादियों और वेदान्तियों का अज्ञेय

इस लेख में अध्यात्म दृष्टि से ठीक उल्टी दृष्टि रखने वाले अज्ञेयवादियों के मत का दोष बताया गया है। चरम सत्य न तो भौतिक है, न बाह्य-विषयभूत जैसा विज्ञान ने मानकर कार्य किया। योग के मत के अनुसार चरम सत्य आध्यात्मिक है। जैसे विज्ञान बाह्य प्रयोगों से कार्य करता है, योग आन्तरिक प्रयोगों से कार्य करता है और उसके सारे सिद्धान्त अनुभूति पर ही आधारित हैं। स्थूल मन अनुभूति पर सन्देह करता है क्योंकि अनुभूति आन्तरिक होती है परन्तु "क्या इस अन्दर-बाहर के भेद का कोई विशेष मूल्य है? क्या प्रत्येक ज्ञान और अनुभव मूल में आन्तरिक ही नहीं होता?"

श्री अरविन्द ने इस शंका का कि भौतिक अनुभूति व्यक्तिगत होती है, तब उसकी क्या प्रामाणिकता हो सकती है, समाधान किया है। वस्तुतः तो "यौगिक अनुभूति सर्वत्र एक ही धारा का अनुसरण करती है। अवश्य ही एक ही नहीं बल्कि अनेक धाराएं हैं, क्योंकि यह मानना ही पड़ेगा कि हमारा सम्बन्ध अनेक रूप वाले अनन्त के साथ है और उन तक पहुंचने के अनेक मार्ग हैं और होने ही चाहिए। परन्तु प्रधान धाराएं सर्वत्र एक ही हैं। विभिन्न देशों और कालों के परस्पर अपरिचित भक्तों, योगियों तथा भिन्न-भिन्न साधनाओं के साधकों की आध्यात्मिक अनुभूतियों में उद्‌भुत समानता मिलती है। "इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि योग साधना में कोई ऐसी बात है जो सर्वत्र एक रूप में पाई जाती है, विश्व-जनीन है और सत्य स्वीकार करने योग्य है। भले ही मन की भाषा में अन्तर होने के कारण उसके वर्णित रूप में चाहे जितना भी भेद क्यों न हो जाए।"

विक्टोरिया-कालीन अज्ञेयवादी और भारतीय वेदान्ती दोनों ही परमतत्त्व को अज्ञेय कहते हैं परन्तु दोनों में अन्तर है। वेदान्त उसे मन के लिए अज्ञेय और वाणी के लिए अनिर्वचनीय कहता है। किन्तु यह अवश्य घोषित करता है कि "मन की बोधि-शक्ति से कहीं अधिक गम्भीर या कहीं अधिक ऊंची एक वस्तु के द्वारा वह प्राप्त हो सकता है और मन भी सहस्र रूपों को, जिन्हें वह मन की आन्तरिक और बाह्य अनुभूति में प्रकट करता है, प्रतिबिम्बित कर सकता है और वाणी भी व्यक्त कर सकती है।" परन्तु यूरोपीय अज्ञेयवादी पहले तो परम सत्य की सत्ता पर ही सन्देह करेगा और यदि उसे मान भी ले तो उसे 'पूर्णरूपेण अज्ञेय' ही कहेगा।

७. संशय और भगवान

श्री अरविन्द ने इस निबन्ध में बताया है कि "भगवान नहीं है" ऐसा कहने वाला जड़वाद मनुष्य की समस्या को सुलझाने में किंचित भी सहायक नहीं होता

और फिर ऐसे हजारों लोग देश-विदेश में हुए हैं—"जिन्होंने युग-युग में साक्षी दी है कि भगवान है और यही कारण है कि योग भी संसार में विद्यमान है।" परन्तु भगवान को पाने के लिए साधक को कष्ट उठाना पड़ेगा। क्योंकि भगवान मूल्य-हीन तो है नहीं जो यों ही उपलब्ध हो जाएं। उन्हें पाने के लिए "हमें अपने अन्दर प्रवेश करना होगा। पर्दे के अन्दर पैठकर उन्हें पाना होगा। ऐसा करने पर ही हम उन्हें बाहर भी देख सकेंगे और हमारी बुद्धि उतनी संतुष्ट न होने पर भी अनु-भव के द्वारा उनकी सत्ता को स्वीकार करने के लिए बाध्य होगी।"

८. झूठी चमक की तराई

इस लेख में श्री अरविन्द ने जड़-विज्ञान (साइन्स) की सीमाएं बताई हैं। जड़-विज्ञान केवल प्रक्रिया का सत्य बतलाता है और वह भी अधूरे रूप में "क्यों-कि जड़-विज्ञान (साइन्स) की सहायता से तुम केवल कुछ स्थूल प्रमेय वस्तुओं को पकड़ सकते हो, परन्तु सर्वप्रधान सूक्ष्म अप्रमेय वस्तुओं तक नहीं पहुंच पाते। तुम यह भी नहीं जान पाते कि प्रकृति में जो बातें होती हैं, वे कैसे होती हैं, केवल इतना ही जान पाते हो कि वे किन-किन अवस्थाओं में होती हैं।" जड़-विज्ञान ने अनेक चमत्कार किए हैं, पर इस सबके मूल कारण का कुछ भी पता उससे मिलना संभव न हो सका है, न होगा और उस मूल तत्त्व की अनंतता के सामने "सभी जड़विज्ञान एक साथ मिलकर भी बहुत तुच्छ प्रतीत होते हैं।"

"आध्यात्मिक और अतिभौतिक अनुभूति की सत्यता के विरुद्ध किए गए आध्यात्मिकता के शत्रु संशयवादियों के नवीन आक्रमण" के गंभीर संकट के विषय में श्री अरविन्द ने चिंता व्यक्त की है। "इनका नाशकारी नया रणकौशल यह है कि ये आध्यात्मिक और अतिभौतिक अनुभूति को स्वयं अपनी बुद्धि के अनुसार ही ग्रहण करते हैं और इनकी व्याख्या कर डालते हैं।" किन्तु इसका इलाज है इन मूर्खतापूर्ण बातों की भली प्रकार परीक्षा कर उन्हें रद्द कर देना। साथ ही यदि आध्यात्मिकता के विरोधी आध्यात्मिक व अतिभौतिक अनुभूतियों की परीक्षा को तैयार हो जाते हैं तब तो वे पराजित हो ही जाते हैं। पर दो प्रकार से एक पुराना संकट आ सकता है—अंधा साम्प्रदायिक धर्माभिमान जागने से और "प्राणमय लोकों से सम्बन्धित रहस्यपूर्ण विद्या और झूठी आध्यात्मिकता" में जा फंसने से। पहले भी ऐसा ही हो चुका है और जड़वाद ने इसी के आधार पर सभी आध्यात्मिकता पर ही आक्र-मण किया था। किन्तु अरविन्द आशावादी हैं और भौतिक जगत में अन्धकार व पूर्ण ज्योति के बीच में इन रूपों पर अंततः परम ज्योति की विजय का विश्वास व्यक्त करते हैं।

श्री अरविन्द ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि "कला, काव्य और संगीत योग नहीं है। ये स्वयं में आध्यात्मिक चीज़ें नहीं हैं, जैसे दर्शन या जड़-विज्ञान

आध्यात्मिक नहीं हैं।" दार्शनिक और कवि की मानसिक अन्तःस्फूर्तियां जड़ जगत में असाधारण लगती हैं पर वे सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति से बहुत नीचे स्तर की होती हैं। "वे बहुत दूर दिखाई देने वाली चमक मात्र हैं, धीमे प्रतिबिम्ब मात्र हैं, परम ज्योति के केन्द्र से आने वाली किरणें नहीं हैं।" परन्तु "फिर भी कभी-कभी भगवान अपना स्पर्श देने के लिए उन्हें साधन बना लेते हैं।" उदाहरणार्थ काली मन्दिर के सामने खड़े होने पर भव्यमूर्ति और उत्तम स्थापत्यकला को देखते-देखते ही भगवती की झलक मिल जाती है—"क्षण मात्र में ही एक रहस्यमय ढंग से, अनपेक्षित भाव से वहां कोई दैवी सत्ता, कोई शक्ति, कोई मुखाकृति दिखाई देती है जो तुम्हारे मुख की ओर मानो आंख गड़ाकर देखती है, और यह क्या ? तुम्हारी अन्तर्दृष्टि जगदंवा को देख लेती है।" भगवत-प्राप्ति के इच्छुक अनेक रूपों और क्रियाओं का उपयोग कर दिव्य अनुभूति पाने में सफल होते हैं। मानसिक और प्राणिक होते हुए भी (आध्यात्मिक न होते हुए भी) कला, साहित्य, संगीत आदि की रचनाएं एक प्रतिभा, एक कविता, एक गीत लहरी इत्यादि उसी प्रकार भगवान को अर्पित किए जा सकते हैं जैसे एक फूल, एक प्रार्थना या एक कर्म। इस प्रकार वे आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर लेते हैं और योगी के लिए स्वीकार्य हो जाते हैं।

९. मध्यवर्ती क्षेत्र

इस लेख में श्री अरविन्द ने मन की साधारण चेतना और परमसत्य के बीच की अवस्थाओं की अनुभूतियों को मंजिल न मान लेने की शिक्षा दी है। लक्ष्य तक पहुंचने के लिए आवश्यक है कि साधक इन अनुभूतियों के निर्विकार साक्षी रूप में अपने को रखे। वह उनके सच्चे स्वरूप को परखें, उनकी सीमाओं को देखें। विज्ञानमय सत्य तक पहुंचने के लिए इस मध्यवर्ती क्षेत्र को धैर्य व दृढ़ता के साथ पार करना आवश्यक है। इसमें अटकना अपना आध्यात्मिक सर्वनाश करना है। सामान्य सी शक्ति का अनुभव करते ही उसे भगवती शक्ति मानकर संतोष करने वाला साधक का विकास रुक जाता है। अनेक ऐसी विरोधी शक्तियां कार्य करती हैं जिनका उद्देश्य होता है साधना को नष्ट कर देना और "ये शक्तियां किसी दिव्य-शक्ति का नाम धारण कर साधक के सामने आती हैं और जो साधक इनमें से किसी एक के चंगुल में फंस जाता है वह योगमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।" इस मार्ग में मार्गदर्शक की अनिवार्य आवश्यकता है क्योंकि "इस योग में जैसे-जैसे मनुष्य आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे उसे ऐसे देश मिलते हैं जिसमें अब तक किसी ने पैर नहीं रखा था और ऐसे क्षेत्र मिलते हैं जिन्हें अब तक किसी ने जाना नहीं था। और यहां जो कर्म करने को कहा जाता है, वह भी ऐसा कर्म नहीं है जिसे चाहे किसी मार्ग का और चाहे जो साधक कर सके। यहां उचित भाव से कर्म न करना आध्यात्मिक

पतन का कारण बनता है। "यहां सभी कर्मों को स्वीकृति, नियमानुवर्तन और समर्पण की भावना के साथ ही करना होता है।" और ठीक अब से कर्म करने पर भी जो कठिनाइयां आती हैं, उनसे बचाकर 'बृहत्तर आत्मा और ज्योतिर्मय ज्ञान' तक ले जाने के लिए पथप्रदर्शन अत्यधिक उपयोगी है।

१०. विश्वगत सत्य और विश्वगत अज्ञान

श्री अरविन्द के इस नौ पंक्तियों के लेख में कहा गया है कि विश्वगत सत्य, विश्वगत अज्ञान के कारण ही ढका रहता है। और विश्वगत सत्य वह दृष्टि है जिसमें "वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप, उनका भगवान के साथ वास्तविक सम्बन्ध तथा उनका पारस्परिक सच्चा सम्बन्ध" देखने की क्षमता है।

११. यौगिक समता और मानसिक समता

श्री अरविन्द ने इस संक्षिप्त लेख में बताया है कि इस व्यक्त जगत में सत्य के दो पहलू हैं—जगत के सब भेद और उन भेदों के होते हुए भी अन्तरात्मा की समता। मानसिक समता, असमानताओं को देखना ही नहीं चाहती। यह बात समझाने के लिए श्री अरविन्द ने दो उदाहरण दिए हैं—रामकृष्ण परमहंस के भानजे हृदय ने रामकृष्ण की शक्ति-स्पर्श पाते ही चिल्लाकर कहा था, "रामकृष्ण, तुम ब्रह्म हो और मैं भी ब्रह्म हूं, हम दोनों में कोई भेद नहीं।" और जब वह शांत नहीं हुआ तो रामकृष्ण को अपनी शक्ति हटा लेनी पड़ी थी। दूसरा उदाहरण उस वेदांती शिष्य का है जो हाथी के सामने "मैं भी ब्रह्म हूं, यह भी ब्रह्म है" कहकर खड़ा हो गया था। वास्तविक समता है यौगिक समता। "यौगिक समता अन्तरात्मा की समता है। वह समवर्तिता है जो स्थापित होती है एक आत्मा को, सर्वत्र विद्यमान एक भगवान के बोध के ऊपर—नामरूपात्मक जगत के सभी भागों, तारतम्यों और वैषम्यों के होते हुए भी उसी एक को देखने वाली दृष्टि के ऊपर।"

१२. मौलिक भेद

इस संक्षिप्त लेख में श्री अरविन्द ने अपनी योग-शिक्षा की विशेषता बताई है। "प्राचीन सभी योग मन से ऊपर उठकर सीधे परब्रह्म की ओर चले जाते हैं और सारे जगत को अविद्या, माया या लीला मानते हैं।" पर श्री अरविन्द के मार्ग में भागवत सत्य (विज्ञानतत्त्व) को अज्ञान के इस जगत में उतारने और जीवन को दिव्य बनाने की पद्धति स्वीकृत है।

१३. उच्चतर सत्य और निम्नतर सत्य

इस संक्षिप्त लेख में श्री अरविन्द ने एक शंका का समाधान करते हुए बताया

है कि विज्ञानमय सत्य के अतिरिक्त अन्य सब कुछ असत्य तो नहीं है परन्तु पूर्ण सत्य नहीं है। "विज्ञानमय सत्य जो पूर्ण और समन्वित है, अधिमानस में आकर अनेक भागों में विभक्त हो जाता है, जो एक दूसरे के विरोध में अपने आपको चरितार्थ करने में प्रवृत्त होते हैं, अपना-अपना अलग जगत ही सृष्टि करना चाहते हैं···अधिमानस से और नीचे उतरने पर यह विभाजन इस तरह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है जिससे वास्तविक भूल-भ्रांति, मिथ्यापन, अज्ञान और अन्त में जड़तत्त्व की अचेतनता तक को उत्पन्न होने का अवसर मिल जाता है।"

१४. श्रद्धा का प्रश्न

श्री अरविन्द ने इस संक्षिप्त लेख में बताया है कि भगवान के दो स्वरूप हैं—परात्पर और विश्वगत। श्रद्धा के भी दो स्वरूप हैं—हमारे अन्दर समत्व लाने वाली श्रद्धा और सिद्धि तक ले जाने वाली श्रद्धा। विज्ञानमय सिद्धि का संकल्प परात्पर भगवान का है। विश्वात्मा भगवान की इच्छा-शक्ति निम्नतर चेतना की परिस्थितियों में से काम करती है और ऐसा होते हुए भी अन्ततः परात्पर भगवान के संकल्प को ही सिद्ध करती है। श्रद्धा जो कुछ भी होता है, उसे प्रसन्नतापूर्वक यह समझकर स्वीकार करती है कि भगवान का संकल्प इस सबसे हमें अंतिम सिद्धि की ओर ही ले जाता है परन्तु प्रत्येक अवस्था को अस्थायी अवस्था मात्र मानती है, कहीं रुकती नहीं, वह समता देने वाली श्रद्धा है। उसी से बल पाकर वह श्रद्धा भी सक्रिय होती है, "जो परात्पर भगवान के संकल्प की सिद्धि को यहां ले आने में सहायता कर सकती है।" परात्पर भगवान की प्राप्ति ही असीमित होती है।

१५. भगवान का त्रिविध स्वरूप

श्री अरविन्दने इस लेख में यहस्पष्ट कियाहै कि भगवानका त्रिविध स्वरूप—परात्पर पुरुष, विश्व पुरुष और व्यष्टि पुरुष—उनका अपना आविष्कार न होकर एक ऐसा तत्त्व है जो कैथोलिक ईसाइयों के त्रिमूर्ति सिद्धान्त—पिता, पुत्र, पवित्रात्मा, सूफ़ी तथा अन्य इस्लामी समुदायों के योगमार्ग तथा वेदान्त इत्यादि में पहले से ही स्वीकृत है। हमारी व्यक्तिगत चेतना भगवान का साक्षात्कार करे तो यह भी एक बड़ी बात है। पर इससे बड़ी उपलब्धि है विश्वात्मा भगवान में अपनी व्यक्तिगत सत्ता को लय करना। किन्तु यह सबसे ऊंची अवस्था नहीं है। यदि परात्पर भगवान की प्राप्ति में व्यक्ति और जगत को खो बैठा जाए तो वह और भी ऊंची अवस्था है परन्तु श्री अरविन्द की दृष्टि में तीनों के सामंजस्य का मार्ग सर्वश्रेष्ठ है अर्थात् "भगवान को प्राप्त करना और साथ ही जगत में उन्हें प्रकट करना और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विज्ञान-सत्य की सी किसी ऐसी शक्ति को, जो अब तक यहा व्यक्त न हुई हो, यहां अवतरित करना।"

१६. कुछ आध्यात्मिक समस्याएं

इस लेख में श्री अरविन्द ने इस धारणा का खण्डन किया है कि पुण्य के लिए पुरस्कार देने तथा पाप के लिए दण्ड देने के लिए प्रकृति में पुनर्जन्म की आस्था है। जो यह समझते हैं कि प्रकृति की सभी क्रियाएं नैतिक ही होनी चाहिएं वे ठीक नहीं सोचते क्योंकि "प्रकृति नीति धर्म से बद्ध नहीं है —वह अपना कार्य सिद्ध करने के लिए नैतिक, अनैतिक और नीतिभावशून्य सभी प्रकार की शक्तियों और प्रक्रियाओं को मिला-जुलाकर अपने उपयोग में लाती है।" सज्जनों पर कष्ट और संकट आते देखकर प्रकृति के कार्यों पर आश्चर्य करने वाले अज्ञान में रहते हैं क्योंकि—"क्या यह सम्भव नहीं है कि स्वयं जीव ने ही—वाह्य मन ने नहीं, वरन भीतरी आत्मा ने—अपने क्रम-विकास के एक अंग के रूप में इन चीजों को स्वीकार या पसन्द किया हो···? क्या यह वात नहीं हो सकती कि ये कठिनाई, विघ्न-वाधाएं, और विरोधी शक्तियों के आक्रमण विकसनशील जीव के लिए—अन्तःस्थित आत्मा के लिए—वे साधन हों जिनसे उसका विकास होता हो, उसकी शक्ति वढ़ती हो, उसका अनुभव क्षेत्र विकसित होता हो, आध्यात्मिक विजय के लिए उसे शिक्षा प्राप्त होती हो।" किन्तु नैतिक नियमों का अपना उपयोग है। "मानसिक या नैतिक नियम केवल काम-चलाऊ नियम हैं और मनुष्य को वड़ी अनिश्चितता के साथ और ठोकरे खाते हुए तव तक इनका उपयोग करना ही पड़ता है जव तक आत्मा के प्रकाश में सव वस्तुओं को पूर्ण रूप में देखने की क्षमता उसे नहीं प्राप्त हो जाती।"

१७. पुनर्जन्म और व्यक्तित्व

श्री अरविन्द ने इस लेख में यह वताया है कि पुनर्जन्म के सम्वन्ध में यह लोक-धारणा भ्रमपूर्ण है कि पुनर्जन्म में व्यक्तित्व दोहराया जाता है। अर्थात् जो पहले योद्धा और कवि थे, वे अगले जन्म में भी योद्धा और कवि होंगे ही। कभी-कभी ये लक्षण दोहराए भी जाएं तो भी एक नये रूप में ढलकर ही क्योंकि जो कुछ पहले था उसी को फिर से प्रकट करना पुनर्जन्म का उद्देश्य नहीं है। "जीव जन्म लेता है अनुभव के लिए, अपनी वृद्धि के लिए, अपने क्रम-विकास के लिए, जिससे अन्त में वह इस जड़तत्त्व के अन्दर भगवान को उतार सके।" "यही केन्द्रीय पुरुष (हृत्पुरुष) जन्म लेता है, यही व्यक्तित्व नहीं।" और "यह हृत्पुरुष जव शरीर को छोड़ देता है···तव वह अपने साथ अपने अनुभवों का सारतत्त्व ले जाता है···जिसे हम दिव्य तत्त्व कह सकते हैं और जिसके लिए ही इन सवकी योजना की गई थी। यही सारतत्त्व उसका चिरस्थायी अंग वनकर रहता है और यही वह चीज़ है जो जीवन में भगवान की उपलब्धि करने में उसकी सहायता करती है।"

१८. इस विश्व की पहेली

इस लम्बे लेख मे श्री अरविन्द ने अनेक महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डाला है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि यह जगत क्षणभंगुर, अपूर्ण तथा दुःखपूर्ण अवश्य है, साथ ही सभी आध्यात्मिक अनुभूतियां यह प्रमाणित करती हैं कि इस जगत के ऊपर एक नित्य सद्वस्तु है जो अनंत स्वयंभू, चिरस्वतन्त्र, परमज्योतिर्मय और परमानन्दमय है। यह भी अनुभव सिद्ध है कि भगवतसत्ता यहां सर्वत्र विद्यमान है और ब्रह्मज्ञ पुरुष इसी जगत में "भगवान की परम शान्ति, ज्योति और आनन्द में निवास कर सकते हैं।" अतः जगत दुःखमय क्यों है, इस पहेली को सुलझाने में प्रयत्नशील होने पर हम देखते हैं कि जगत में विकास का तत्त्व काम कर रहा है, प्राण, विकसनशील मन, सुविकसित मन आदि क्रमशः जड़ विकास के ही परिणाम रहे हैं। "क्रमविकास का एक-एक स्तर चेतना की क्रमशः एक-एक शक्ति के अवतरण के कारण प्रकट हुआ है और इस अवतरण से प्रत्येक बार जड़ तत्त्व उन्नत हुआ है···पर अभी तक सर्वोच्च शक्तियों का अवतरण नहीं हुआ है।" उनका अवतरण होने से ही जगत की समस्या का समाधान होगा। तब अन्तरात्मा भी मुक्त होगा और प्रकृति भी।" "यही वह सत्य है जिसके स्वरूप की झलक अधिकाधिक पूर्ण मात्रा में उन ऋषियों को मिली थी जिन्हें तंत्रों में वीर साधक और दिव्य साधक कहा गया है।"

जगत, भगवान से इतना भिन्न कैसे हुआ, इस प्रश्न के उत्तर में सभी आध्यात्मिक अनुभूतियां सहमत हैं। "विभाजन, अहंकार, अपूर्ण चेतना, अंधेरे में टटोलना पृथक रहकर आत्मप्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करना—ये सब बातें ही इस जगत के अज्ञान और दुःख-कष्ट के निमित्त कारण हैं।"

परन्तु यह हुआ ही क्यों ? व्यक्तिगत मानवबुद्धि को यह समझाना कठिन है कि क्योंकि यह विश्वव्यापी वुद्धि की योजना अपरिवर्तित है जो कहीं अधिक बड़े क्षेत्रों को देखती है। "उस महत्तर चेतना के अन्दर प्रवेश करने पर ही मनुष्य उस अनिर्वचनीय सत्य की आत्म-सृष्टि की अपरिहार्यता और उसके उद्देश्य को समझ सकता है।" सीमित चेतना ही नामरूपात्मक जगत को इस रूप में देखती है। अध्यात्म-सत्ता में पहुंचने पर निस्संदिग्ध ज्ञान प्राप्त होते ही, पूरा तात्पर्य समझ में आ जाता है और जीव मुक्त हो जाता है। "यह वह आरोहण है जहां से फिर कभी पतन नहीं होता वरन ज्योति, शक्ति और आनन्द का तेजी से या अपने आप अवतरण होता है।" जीव के स्वभाव में ही यह शक्ति है कि वह आत्मविकास की सीमाएं वना सकता है और तोड़ भी सकता है। जब जीव अपनी बाह्य सीमा को तोड़कर "एक उच्चतर चेतना की ओर जो उसके लिए अभी पराचेतना है, अग्रसर होगा, तभी वह अपनी असमर्थता और अज्ञान से बाहर निकल सकेगा।" सभी

सीमाओं को तोड़कर जब वह पूर्ण मुक्ति को प्राप्त करेगा, तभी उसकी लक्ष्यसिद्धि होगी। परन्तु ऐसे मुक्त जीव विश्व से नाता तोड़ लें तो विश्व का क्या लाभ हुआ? वे यदि मुक्त होने पर उच्चतर शक्तियों को पृथ्वी पर उतारने में प्रयत्नशील हों तभी एक नवीन सृष्टि होगी—आध्यात्मिक और विज्ञानमयी ज्योति से पूर्णतया जगमगाती हुई। और तभी इस विश्व की पहेली सुलझ पाएगी।

७. माता

श्री अरविन्द की कृति 'माता' (दी मदर) अत्यन्त लघु है किन्तु सरस और महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रथम प्रकाशन आर्य साहित्य भवन, कलकत्ता से १९२८ में हुआ था। इसमें ६ छोटे-छोटे तथा शीर्षकहीन अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में कहा गया है कि विज्ञानमय रूपान्तरण के लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधक की दृढ़ आकांक्षा तथा भागवती शक्ति की करुणा दोनों का संयोग अनिवार्य है। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि विज्ञानमयी भागवती प्रसादशक्ति "प्रकाश और सत्य की अवस्थाओं में ही कार्य करती है।" माता की करुणा को पाने के लिए साधक को भगवदिच्छा के प्रति अपना पूर्ण समर्पण करना होगा और सच्ची आकांक्षा जगाने के लिए अन्य अभिलाषाओं को पीछे छोड़ देना होगा। "रूपान्तर सर्वांगीण होगा, अतः जो कुछ उस रूपान्तर में बाधक है, उसका त्याग भी सर्वांगीण ही करना होगा।" श्री अरविन्द तामसिक निश्चेष्टता से सावधान करते हैं क्योंकि प्रायः उसे समर्पण समझने की भूल हो जाती है। समर्पक साधक सक्रिय होता है, निष्क्रिय नहीं। "भागवती शक्ति के कर्म करने के लिए साधक में उसके प्रति ऐसी अधीनता होनी चाहिए जो प्रसन्न, बलयुक्त और सहायक हो और ऐसी आज्ञाकारिता होनी चाहिए जो सत्य के ज्ञानदीप्त अनुयायी को, अन्तर्जगत में अन्धकार और असत्य से लड़ने वाले वीर योद्धा को, भगवान के सच्चे सेवक को शोभा दे।"

द्वितीय अध्याय में श्री अरविन्द ने कहा है कि यद्यपि "योग में भी भगवान ही साधक हैं और साधना भी" क्योंकि "जगत में जो कुछ भी होता है, उसमें भगवान अपनी शक्ति का आश्रय लेकर प्रत्येक कार्य के पीछे रहते हैं।" तथापि "जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय है, तब तक साधक के वैयक्तिक प्रयत्न की आवश्यकता रहती ही है।" और "यह वैयक्तिक प्रयत्न आकांक्षा, त्याग और समर्पण से युक्त त्रिविध अभ्यास है।" श्री अरविन्द ने इन तीनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है।

तृतीय अध्याय में श्री अरविन्द ने साधक के हृदय में श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण की पूर्णता पर बल दिया है क्योंकि उनकी मात्रा पर ही माता की दया की मात्रा भी निर्भर करती है। एक बार माता के वरद और रक्षक हाथ का स्पर्श हो जाने

पर साधक को इस जगत के तथा अन्य अदृश्य जगतों के किसी भी शत्रु का भय शेष नहीं रह जाता।

चतुर्थ अध्याय में श्री अरविन्द ने धन-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं। "धन एक विश्वजनीन शक्ति का स्थूल चिह्न है। यह शक्ति भूलोक में प्रकट होकर प्राण और जड़ के क्षेत्रों में कार्य करती है। वाह्य जीवन की परिपूर्णता के लिए इसका होना अनिवार्य है :···धनशक्ति और उससे प्राप्त होने वाले साधनों और पदार्थों से तुम्हें विरक्तों की तरह भागना नहीं चाहिए और न इनकी कोई राजसी आसक्ति या इनके भोग में पड़े रहने की दासत्व-वृत्ति का ही पोषण करना चाहिए।" सच्ची दृष्टि तो यह है कि "सारा धन भगवान का है और यह जिन लोगों के हाथ में है, वे उसके रक्षक हैं, स्वामी नहीं।" दूसरे शब्दों में "धन को केवल यह समझो कि यह एक शक्ति है जिसे माता की सेवा के लिए जीतकर लौटा लाना और उन्हीं की सेवा में अर्पण करना है।" श्री अरविन्द ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य-सूत्र दिया है—"कोई मनुष्य धनी है केवल इसीलिए उसके सामने सिर नीचा मत करो, उसके आडम्बर, शक्ति या प्रभाव के वशीभूत मत हो।" साथ ही माता के लिए मांगने वाले व्यक्ति को यह प्रतीत भी होना चाहिए कि माता ही उसके द्वारा अपनी वस्तु का कुछ अंश मांग रही है।

पंचम अध्याय में श्री अरविन्द ने संसार में कर्म करने की विधि वताई है। व्यक्ति को अहंकार-शून्य होकर, कर्तापन का अभिमान त्याग कर कर्म करना चाहिए। अपने को भगवती माता की लीला का एक यंत्र मानकर कर्म करना चाहिए। ऐसा कर्म करने की यह कला आने पर यह अवस्था आ जाएगी कि व्यक्ति की अपनी इच्छा और भगवती की इच्छा में भेद ही न रहे, उसका प्रत्येक कर्म भगवती का चिन्मय कर्म हो जाएगा। किन्तु यदि ऐसा अहंकार-शून्य कर्म करना सम्भव न हो तो भी "कर्म करो माता के लिए ही" और यह सेवाभाव से कर्म होगा और इससे अन्त में यंत्रभाव प्राप्त हो जाएगा। अन्तिम अवस्था वह होगी जव व्यक्ति पृथकता को पूर्णतया खोकर स्वयं को "शक्ति की चेतना और शक्ति का सनातन अंश" अनुभव कर कर्म करता रहेगा।

अन्तिम षष्ठ अध्याय में श्री अरविन्द ने एक ही भगवती शक्ति किस प्रकार विभिन्न रूपों में आविर्भूत होकर विश्व चला रही है यह वताया है। "माता हैं एक ही, परन्तु हमारे सामने वे नानारूपों में आविर्भूत होती हैं। उनकी अनेकानेक शक्तियां और मूर्तियां हैं। उनके अनेकानेक स्फुलिंग और विभूतियां हैं, जिनके लिए उन्हीं का कर्म ब्रह्माण्ड में साधित हुआ करता है।"

श्री अरविन्द ने भगवती शक्ति के चार विशेष विग्रहों – माहेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। किन्तु "मां भगवती के और भी कई महान विग्रह हैं परन्तु उनका अवतरण कराना अधिक कठिन

रहा और भौतिक सत्ता के क्रम-विकास में वे उतनी स्पष्टता के साथ सामने आए भी नहीं हैं।''

श्री अरविन्द माता को समझने के लिए मन को क्षुद्र मानते हैं—"परन्तु सावधान, अपने इस क्षुद्र पार्थिव मन से माता को समझने और परखने की चेष्टा मत करो" क्योंकि मन अपनी कक्षा से वाहर की वस्तुओं को पकड़ने में असमर्थ है। "अतः यही अच्छा है कि तुम अपना हृदय माता की ओर खोल दो···तव माता स्वयं ही तुम्हारे मन, हृदय, प्राण और शरीर-चेतना को उनके चैत्य तत्त्वों के द्वारा प्रवुद्ध कर देंगी और अपनी रीति-नीति और "प्रकृति भी दिखा देंगी।" मानव का प्रगति करते हुए 'विज्ञानमय' मानव के रूप में रूपान्तरित होना ईश्वरीय योजना है किन्तु इसके लिए यह प्रथम आवश्यकता है कि नीचे से इसके लिए पुकार हो—ऐसी उत्कंठा के साथ कि जव वह ज्योति अवतरित हो तो उसे निम्न सत्ता पहचाने, स्वीकार करे, अस्वीकार न करे।" दूसरी आवश्यकता ईश्वरीय अनुमति है। पुकार और अनुमति के मध्य स्थित है भगवती माता और उस माता की शक्ति ही इस जगत के अन्धकार, असत्य, मृत्यु और क्लेश को प्रकाश, सत्य, दिव्य जीवन और आनन्द से स्थानान्तरित कर सकती है।

८. विचारमाला और सूत्रावली

श्री अरविन्द कृत 'विचारमाला और सूत्रावली' (थाट्स ऐण्ड स्फ़ॉरिज्म्स) कृति में 'ज्ञान', 'भक्ति' और 'कर्म' शीर्षकों के अन्तर्गत अमूल्य विचार सूत्र रूप से रख दिए गए हैं।

'ज्ञान' में श्री अरविन्द ने ज्ञान और प्रज्ञा का अन्तर वताते हुए अनेक प्रकार से विचार प्रकट किए हैं यथा "ज्ञान सत्य का उतना-सा अंश होता है जितना एक विकृत मध्यवर्ती क्षेत्र में दिखाई देता है जब मन अंधेरे में खोजता हुआ वहां पहुंचता है। प्रज्ञा है वह वस्तु जिसे दिव्य दर्शन का नेत्र आत्मा के अन्दर देखता है।"··· "वहुत देर से मैंने जाना कि जब बुद्धि मर गई तब प्रज्ञा उत्पन्न हुई।"···"जिसे मनुष्य ज्ञान कहते हैं, वह है झूठे वाह्य रूपों को बुद्धि द्वारा स्वीकार करना। प्रज्ञा परदे के पीछे की ओर ताकती और प्रत्यक्ष देखती है।"

श्री अरविन्द तर्क को 'सत्य का सबसे वड़ा शत्रु कहते हैं' क्योंकि वह अपनी भूल को देख ही नहीं पाता। वे मनुष्य में 'पाप' नहीं मानते केवल "रोग, अज्ञान, तथा दुरुपयोग-वृत्ति" मानते हैं क्योंकि 'पाप' है क्या ? "पाप वह है जो एक समय अपने स्थान पर था परन्तु अब भी वह वने रहने के कारण अनुचित स्थान पर आ गया है। इसके अतिरिक्त पाप और कुछ नहीं है।"

चमत्कारों के सम्बन्ध में श्री अरविन्द की एक रोचक युक्ति उल्लेख्य है— "उच्चकोटि के संतों ने चमत्कार किए हैं; उच्चतर कोटि के संतों ने उनकी निन्दा की है; उच्चतम कोटि के संतों ने उनकी निंदा भी की है और उन्हें जिया भी है।" कितनी सत्य वात कितनी सरलता से कह दी गई है।

एक स्थान पर श्री अरविन्द ने विवेकानंन्द की संन्यासपरक प्रशंसात्मक युक्ति को वड़ी अच्छी तरह काटा है—"विवेकानन्द ने संन्यास का गुणगान करते हुए कहा है कि सारे भारतीय इतिहास में एक ही जनक हुए हैं। परन्तु वात ऐसी नहीं है क्योंकि जनक केवल किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं है, अपितु आत्मशासक राजाओं के एक वंश का नाम है तथा एक आदर्श का विजय-निनाद है।" वे आगे कहते हैं—"सैकड़ों ही संन्यासी सिद्ध, पूर्ण हुए हैं क्योंकि संन्यास का वहुत अधिक प्रचार किया गया है। वस, यही वात जीवन्मुक्ति के आदर्श पर भी लागू कर दी

जाए और फिर हमें 'सैंकड़ों' जनक प्राप्त हो जाएंगे।" फिर जनक को पहचानन भी तो कठिन है, संन्यासी को तो वेश-भूषा से सरलता से पहचान सकते हैं। और फिर यह ठीक है कि "मुक्त होकर संसार में रहना और फिर भी साधारण मनुष्यों का जीवन विताना कठिन है; परन्तु यह कठिन है इसी कारण हमें इसके लिए प्रयास करना होगा और इसे सिद्ध करना होगा।"

श्री अरविन्द स्वार्थपरायणता को एकमात्र 'पाप' कहते हैं तथा घृणा को एकमात्र 'अपराध'। वे 'अकर्म' का अस्तित्व ही नहीं मानते क्योंकि प्रत्येक वस्तु ब्रह्माण्ड पर अपना प्रभाव डालती रहती है। वे मत-मतान्तरों से ऊपर उठने का संदेश देते हैं—"कोई मत न तो सत्य होता है, न मिथ्या, अपितु केवल जीवन के लिए लाभदायक या हानिकारक होता है; क्योंकि वह काल की सृष्टि होता है और काल के साथ ही वह अपना प्रभाव और मूल्य खो देता है। तू मत-मतांतर से ऊपर उठ जा और चिरस्थायी प्रज्ञा की खोज कर।"

पश्चिम के विद्वान प्रकृति के अनुसार जीवनयापन की वात करते हैं किन्तु श्री अरविन्द इस पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न करते हैं—"परन्तु किस प्रकृति के अनुरूप, शरीर की प्रकृति के अनुरूप या उस प्रकृति के अनुरूप जो शरीर का अतिक्रमण करती है?" और सवसे पहले इसी का निर्णय करने की वात कहते हैं।

श्री अरविन्द दार्शनिक ज्ञान की उलझनों में भटकने से वचने का उपदेश करते हैं—"निस्सार दार्शनिक ज्ञान के व्यर्थ जालों तथा अनुर्वर वौद्धिकता की सूखी धूल को त्याग दो। केवल वही ज्ञान पाने योग्य है जिसका उपयोग जीवन्त आनन्द प्राप्त करने के लिए किया जा सके और जिसे स्वभाव, कर्म, रचना और सत्ता में व्यक्त किया जा सके।"

भारत की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए उनकी दो सूक्तियां विशेष महत्त्व की हैं—प्रथम, "दरिद्रता का होना एक अन्यायपूर्ण तथा कुव्यवस्थित समाज का प्रमाण है और हमारी सार्वजनिक दानशीलता केवल एक डाकू के विवेक का प्रथम और धीमा जागरण है।" तथा द्वितीय—"जव प्राचीन भारत का आदर्श था विशाल वैभव और अपार अर्थव्यय तव वह सवसे महान राष्ट्र था। आधुनिक भारत सर्वसामान्य रूप से वैराग्य की ओर प्रवृत्त होने के कारण जीवन में पूर्णतः दरिद्र वन गया है तथा दुर्वलता व पतन के गर्त्त में डूव गया है।"

इसी प्रकार 'कर्म' के अन्तर्गत भी श्री अरविन्द ने अनेक महत्त्वपूर्ण विचार दिए हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं—"जव शक्ति क्रोध से ऊपर उठ जाती है तव वह महान होती है।" अन्यत्र वे कहते हैं —"हमारा देश भगवती माता है। उसकी निंदा मत कर जव तक तू प्रेम और नम्रता के साथ वैसा न कर सके।"

श्री अरविन्द अतीत के सही उपयोग को इस प्रकार वताते हैं—"भूतकाल के सांचों को तोड़ डालो परन्तु उनकी स्वाभाविक शक्ति और मूल भावना को सुरक्षित

रखो, अन्यथा तुम्हारा कोई भविष्य ही नहीं रह जाएगा।"

वे ईश्वरीय आदेश प्राप्त होते ही उसे पूर्ण करने में तत्पर हो जाने का उपदेश देते हैं। सामान्य साधन होने पर भी लक्ष्यपूर्ति में तत्पर होने का निर्देश भी करते हैं क्योंकि "यदि तेरा लक्ष्य महान हो और तेरा साधन सामान्य हो तो भी कार्य कर क्योंकि केवल कार्य के द्वारा ही तेरे साधनों में वृद्धि हो सकती है।"

'भक्ति' के अन्तर्गत अभिव्यक्त उनके विचार अत्यन्त हृदयहारी हैं, यथा— "मैं भक्त नहीं हूं, मैं ज्ञानी नहीं हूं, मैं भगवान के लिए कर्म करने वाला भी नहीं हूं। तव भला मैं क्या हूं ? अपने प्रभु के हाथों का एक यंत्र, गोपालकृष्ण के अधरों पर वजने वाली एक मुरली, भगवान के श्वास से उड़ने वाली एक पत्ती।" "भक्ति तव तक पूर्णत: चरितार्थ नहीं होती जव तक वह कर्म और ज्ञान नहीं वन जाती।" "भगवान का सेवक होना कुछ चीज़ है, भगवान का दास होना उससे भी वड़ी चीज़ है।"..."भला वह मनुष्य कृष्ण को कैसे पा सकता है जिसने कभी काली की उपासना नहीं की है ?"

९. सावित्री : एक आख्यान और एक प्रतीक

श्री अरविन्द की अमर कृतियों में 'सावित्री' महाकाव्य की भी गणना है। इस कृति का पूरा शीर्षक है 'सावित्री : ए लीजेण्ड ऐण्ड ए सिम्बल' अर्थात् 'सावित्री : एक आख्यान और एक प्रतीक'। यह तीन भागों में है जिनके अन्तर्गत पर्वों और सर्गों की रचना निम्नलिखित है—

प्रथम भाग में तीन पर्व हैं। प्रथम पर्व 'आदि पर्व' में पांच सर्ग हैं—क्रमशः (१) प्रतीक ऊषा (२) समस्या (३) राजा का योग : आत्मा की मुक्ति का योग (४) गुह्यगान, तथा (५) राजा का योग : आत्मा की मुक्ति और महत्ता का योग। द्वितीय पर्व —'जगतों का यात्री पर्व' में पन्द्रह सर्ग हैं—क्रमशः (१) जगत-सोपान (२) सूक्ष्म जड़तत्त्व का जगत (३) प्राण की महिमा और पतन (४) अल्पतर प्राण के लोक (५) अल्पतर प्राण के देववृन्द (६) महत्तर प्राण के लोक और अनेक देववृन्द (७) निशा में अवतरण (८) असत्य का जगत, अशिव की जननी तथा अंधकार के पुत्र (९) प्राण के देवों का स्वर्ग (१०) अल्पतर मन के लोक तथा उनके देववृन्द (११) महत्तर मन के लोक तथा उनके देववृन्द (१२) आदर्श के स्वर्ग (१३) मनोमय पुरुष के अन्तर में (१४) जगत आत्मा तथा (१५) महत्तर ज्ञान के जगत।
तृतीय पर्व —'भगवती माता पर्व' में चार सर्ग हैं —क्रमशः (१) अज्ञेय की खोज, (२) भगवती माता की आराधना, (३) आत्मा का ध्यान और नई सृष्टि, तथा (४) दर्शन और वरदान।

द्वितीय भाग में अगले पांच पर्व हैं—चौथे से आठवें तक। चतुर्थ पर्व 'जन्म तथा खोज पर्व' में चार सर्ग हैं—क्रमशः (१) ज्योति का जन्म और बाल्यावस्था (२) ज्योति का विकास, (३) खोज के लिए आह्वान तथा (४) खोज।

पंचम पर्व 'प्रेम पर्व' में तीन सर्ग हैं—क्रमशः (१) विधि निर्दिष्ट मिलन-स्थल, (२) सत्यवान तथा, (३) सत्यवान और सावित्री।

षष्ठ पर्व नियति पर्व में दो सर्ग हैं—क्रमशः (१) नियति की वाणी, तथा

(२) नियति का मार्ग और दुःख की समस्या।

सप्तम पर्व 'योग पर्व' में सात सर्ग हैं—क्रमशः (१) मिलन का आनन्द, मृत्यु के पूर्वज्ञान की अग्नि-परीक्षा तथा हृदय की पीड़ा (२) आत्मान्वेषण की कथा (३) अन्तर्देशों में प्रवेश (४) त्रिविध आत्मशक्तियां (५) आत्मा की प्राप्ति (६) निर्वाण तथा सर्वनिषेधी परमतत्त्व की खोज, तथा (७)… (इस सर्ग का कोई शीर्षक श्री अरविन्द ने नहीं दिया है।)

अष्टम पर्व 'मृत्यु पर्व' में केवल एक सर्ग है—अरण्य में मृत्यु।

तृतीय भाग में अन्तिम चार पर्व हैं। नवम से द्वादश तक। नवम पर्व 'शाश्वत निशा पर्व' में दो सर्ग हैं—क्रमशः (१) काली शून्यता की ओर, (२) शाश्वत रात्रि में यात्रा तथा अंधकार की वाणी।

दशम पर्व 'दोहरा झिलमिल प्रकाश पर्व में चार सर्ग हैं—क्रमशः (१) आदर्श का स्वप्निल झिलमिल प्रकाश, (२) मृत्यु का सिद्धान्त तथा आदर्श की असारता, (३) प्रेम और मृत्यु का वादविवाद, तथा (४) पार्थिव सत्य का स्वप्निल झिलमिल प्रकाश।

ग्यारहवें पर्व 'शाश्वत दिन' में एक ही सर्ग है—शाश्वत दिन : आत्मा का चयन तथा परम पूर्णत्व।

बारहवां पर्व 'उपसंहार पर्व' में 'पृथ्वी पर वापसी' है।

इस प्रकार कुल मिलाकर १२ पर्वों में ४९ सर्ग हैं। श्री अरविन्द की योजना ५१ सर्गों की थी और दो सर्ग अवश्य ही कहीं खो गए। क्योंकि अष्टम पर्व 'मृत्यु पर्व' में एक ही सर्ग उपलब्ध है जिसको सर्ग ३ लिखा गया है—'अरण्य में मृत्यु' शीर्षक से। निस्सन्देह यह एक विशाल ग्रन्थ है। सावित्री-सत्यवान की प्रसिद्ध कथा को जो महाभारत में लिखित है तथा लोक-प्रसिद्ध है, ग्रहण करके एक अद्‌भुत कलात्मकता के साथ प्रतीकों की भाषा में प्रस्तुत किया गया है। महाभारत में जो कथा केवल १८ श्लोकों में वर्णित हो उसको २४००० उत्कृष्ट काव्य-पंक्तियों में प्रस्तुत करना एक योगी-कवि के लिए ही संभव प्रतीत होता है।

इस कृति को श्री अरविन्द ने जिस योजना से पहले लिखना प्रारम्भ किया था वह कथा को प्रस्तुत करने की थी। किन्तु बाद में भागवत निर्देश के अनुसार योजना बदल गई। श्री अरविन्द ने सन् १९३१ में अपने एक पत्र में लिखा था—"एक पहले की पाण्डुकृति भी है जिसमें कई बार संशोधन हुए हैं जिनके विषय में तुम्हें किसी ने बताया है। परन्तु उस रूप में यह 'महाग्रंथ' तो बन ही नहीं सकती थी। और, यह मात्र कथा होती, प्रतीक नहीं। अतः मैंने सम्पूर्ण को नया रूप देना प्रारम्भ किया। पुरानी पांडुकृति में सर्वोत्तम अंश व पंक्तियां ही इसमें रहेंगे और वह भी ऐसे बदले रूप में कि नये गठन में ठीक बैठ सकें।"

'सावित्री' की रचना एक विशाल महाकाव्य के रूप में की गई है जिसमें कोई

आवश्यक बात छूटने न पाए, इसकी चिन्ता महाकवि ने की है। निस्सन्देह उसकी रचना जनसाधारण के लिए नहीं है। कोई भी सूक्ष्म कला पाठक से भी कला-अभिज्ञता की मांग करती है। श्री अरविन्द के गंभीर योग व दर्शन का अंकन करने वाली 'सावित्री' महाकाव्य में भी यही बात है।" 'सावित्री' ऐसे दर्शन या अनुभव का अंकन है जो साधारण नहीं है और साधारण मन के अनुभवों से बहुत दूर है।" पाठक में यदि पर्याप्त बौद्धिक ज्ञान या साधना से प्राप्त क्षमता होगी तभी वह उसे समझने में प्रवृत्त होगा, सफल होगा और अद्भुत आनंद प्राप्त करेगा। एक आदर्श काव्य के समान ही इसकी रचना महाकवि ने 'स्वान्तः सुखाय' की थी, दूसरों के लिए नहीं। उनके शब्दों में ही—"यदि मेरे मन में सामान्य पाठकों के लिए 'सावित्री' लिखने की बात होती तो मैं 'सावित्री' बिलकुल लिखता ही नहीं। वास्तव में मैंने स्वयं अपने लिए 'सावित्री' लिखी है और···उन लोगों के लिए लिखा है जो अतिमानस के स्तर पर कार्य कर सकते हैं।" 'सावित्री' महाकाव्य की प्रतिष्ठा का आधार एक बड़ा भारी आतंक भी है कि वह गंभीर आध्यात्मिक काव्य-कृति है। यद्यपि "सावित्री में किसी भी स्थान पर केवल अच्छा चित्रण करने के लिए अथवा भाषण का प्रयोग या सस्ता प्रभाव डालने के लिए कुछ भी नहीं लिखा गया है" तथापि यह भी सत्य है कि उसमें ऊंची अनुभूति का सत्य है जैसा श्री अरविन्द स्वयं कह चुके हैं—'मैंने जो कुछ देखा है, अनुभव किया है अथवा अन्तर में जाना है, वही व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।"

'सावित्री' महाकाव्य के स्वरूप को प्रोफ़ेसर रेमण्ड फ्रेंक पाइपर के शब्दों में सुन्दरता से रखा गया है—

"हम जानते हैं कि हमें कलात्मक सीमाओं की पराकाष्ठा तक काव्यकला का उपयोग, मानव जाति की शाश्वत जीवन-प्राप्ति और लालसा तथा संघर्षों को अभिव्यक्त करने के लिए करना चाहिए। और सौभाग्य से तात्विक न रहस्यवादी काव्य के एक वृहत् नये रूप ने नवीन प्रकाश-युग का उद्घाटन कर दिया है··· १९५० में दिवंगत होने से पूर्व प्रायः पचास वर्षों में श्री अरविन्द ने इसकी रचना की जो संभवतः अंग्रेज़ी भाषा का सबसे महान महाकाव्य है और आधुनिक विश्व की किसी भी भाषा में सबसे विशाल काव्य-रचना है। मैं निर्भयपूर्वक यह कहने का साहस करता हूं कि यह आज तक रचित विश्वपरक कविताओं में सबसे अधिक विस्तृत, सुगठित, सुन्दर और पूर्ण है। इसमें प्रतीक रूप से आदिकालीन विश्व-व्याप्त शून्य से लेकर पृथ्वी के अंधकार और संघर्षों में होते हुए अतिमानसिक आध्यात्मिक अस्तित्व के उच्चतम प्रदेशों तक सब कुछ है और यह मानव से सम्बन्धित प्रत्येक महत्त्वपूर्ण बात को ऐसे काव्य के द्वारा प्रकाशित करती है जो अद्वितीय विशालता, भव्यता और आलंकारिक क्रान्ति से युक्त है। संभवतः 'सावित्री' मानव मन को पूर्ण ब्रह्म के प्रति प्रसारित करने वाली सबसे अधिक प्रभावी

कलात्मक कृति है।"

२३८१३ पंक्तियों के 'सावित्री' महाकाव्य का ठीक परिचय संक्षेप में दे पाना कठिन ही नहीं, असंभव है। अतः जो परिचय यहां दिया जा रहा है, उसका उद्देश्य इस मनोरम एवं उदात्त कृति की एक झांकी प्रस्तुत करना ही है, जिससे मूल ग्रंथ की ओर आकर्षण हो सके तथा दुरूहता की वाधा पाठक का मार्ग रुद्ध न कर सके।

प्रथम पर्व

महाकाव्य की प्रारम्भिक पंक्ति ही अत्यन्त आकर्षक व संकेतपूर्ण है—"वह देवों के जागरण से पूर्व का समय था।" सृष्टि के पूर्व का वर्णन करते हुए श्री अरविन्द ने महाकाव्य का प्रारम्भ किया है। उन्होंने सृष्टि के पूर्व की अवस्था को चित्रित करते हुए अद्भुत कलाकारिता का परिचय दिया है। उस समय शून्यता की रात्रि का अंधकार ही अंधकार था और "एक अगाध शून्य विश्व को व्याप्त किए हुए था।" तभी असीम आत्मा की अचिंत्य शक्ति जाग उठी और सृष्टि का प्रारम्भ हो गया। उस समय रिक्त आकाश में एक नामहीन हलचल हुई, एक 'अविचारित संकल्प' जाग उठा। एक रूपहीन चेतना ने प्रकाश की कामना की और ऐसा हुआ मानो वेसुध विश्वजननी को वस्तुओं की अंतहीन आवश्यकता की सुधि दिला दी गई हो।" "जो कुछ पहले नष्ट हो चुका था, उसको पुनः वनाने की वात आ गई और अव पुराना अनुभव फिर कार्यरत हो गया।" सचमुच "भगवान का स्पर्श मिले तो सव कुछ हो सकता है।" अन्ततः रात्रि का अंधकार दूर हो गया और ऊषा प्रकट हो गई। यहां 'ऊषा' चेतना के दिव्य प्रकाश की प्रतीक है जैसे वेद में।

श्री अरविन्द ने ऊषा का अत्यन्त भव्य वर्णन किया है। वह अगम्य परात्पर की छटा थी, अलक्षित परमतत्त्व की प्रभा से विविध रंगों वाली थी, अज्ञात अमर प्रकाश का सन्देश थी, इत्यादि। ऊषा क्षण भर को पृथ्वी पर आई और उस समय पृथ्वी की साधारण वस्तुएं भी दिव्य और चमत्कारपूर्ण हो उठीं। किन्तु शीघ्र ही वह दिव्य प्रेरणा वापस चली गई क्योंकि मानव-मन उस परिपूर्ण प्रकाश को धारण करने में असमर्थ था, अपात्र था। "भगवत्ता का प्रकाश क्षण भर ही रुक पाता है।" वह "आत्मिक सौन्दर्यमयी ऊषा अपनी झलक मात्र से मानव को प्रेमोन्मत्त वना जाती है और काव्य की एक ताल पर शाश्वत को लुटा जाती है।" उस अद्वितीय ऊषा के चले जाने पर पृथ्वी पर केवल साधारण प्रकाश रह गया। मानव अपने दैनिक कार्यों में व्यस्त हो गए और "शंकालु मन वाला मानव अपना भाग्य स्वयं ढोता रहा।"

ऐसे मानव समाज में ही ईश्वरीय चेतना सावित्री के रूप में प्रकट हुई। ऊषा

द्वारा पृथ्वी का स्पर्श मानो सावित्री के जन्म का ही पूर्वाभास था। सावित्री प्रारम्भ से ही असाधारण थी। उसे पता था कि उसका मूल स्थान नश्वर जगत नहीं, शाश्वत धाम है। उसे सांसारिक सुखों में कोई आकर्पण नहीं था और इस "मानव क्षेत्र में वह एक समर्थ अपरिचित थी।" "वह अपने साथ मनुज-रूप में उस गौरव-मय तथा सचेतन विशालता और आनन्द को तथा उस शान्त हर्प को लेकर आई थी जो व्यष्टि-आत्मा को समष्टि से संयुक्त कर देते हैं और जो स्वर्गिक आनन्द के दीप्त द्वारों की कुंजी हैं।"

श्री अरविन्द ने सावित्री को विवाह के एक वर्प वाद ही सत्यवान की मृत्यु हो जाने की नारदीय भविष्यवाणी का संकेत देते हुए कहा है कि उस लोकोप-कारिणी सावित्री को भी पृथ्वी ने कष्ट ही दिया। सचमुच "पृथ्वी के स्वभाव में परिवर्तन वहुत कठिन है। शाश्वत के स्पर्श को नश्वरता सहन नहीं कर पाती है।" पृथ्वी दुःखहीन सुख तथा दिव्य प्रकाश को पसन्द नहीं करती और "मुकुट देने वालों को फांसी (कास)" देने वाली है। किन्तु सावित्री ने अपनी महानता के कारण सुखों को त्याग कर, कष्टों को चुपचाप सहन किया। वह आने वाली पति-मृत्यु के महाशोक को अपने विदीर्ण हृदय के एक कोने में छिपाकर, शांत मुखमण्डल से, साहसपूर्वक समय व्यतीत करती रही। "स्वयं अविचलित रहकर, उसने शक्ति-संचय किया।" श्री अरविन्द ने "यही दिन था जव सत्यवान की मृत्यु होनी थी" कहकर इस सर्ग को समाप्त किया है।

दूसरे सर्ग में श्री अरविन्द ने सावित्री को पिछली घटनाओं का स्मरण करते हुए अंकित किया है। अचानक सावित्री को अपने शैशव व यौवन के सुखी दिनों का स्मरण हो आता है। विवाह के पश्चात् के "वारहों रागाविष्ट मास इस नियति-दिवस में ही आ सिमटे थे।" अव समय आ गया था कि या तो उसका जीवन अर्थ-हीन रह जाएगा या उसे अपनी इच्छा-शक्ति से अपने शरीर की नियति को निरस्त करना होगा। नियति निरस्त की जा सकती है क्योंकि वह भूतकाल के कार्यो का परिणाम मात्र है। सावित्री को भी पता था कि उसे अपने आत्मवल से अमरत्व के मार्ग की वाधा को दूर करना और मृत्यु से संघर्प लेना ही पड़ेगा। एक दिन ऐसा आता ही है जव प्रज्ञा प्रकटे और दिव्य दृष्टि अन्दर से आए। सावित्री के अन्तः-स्थल में भी विश्वजननी आकर प्रकट हो गई और परिणामस्वरूप भाग्य के निष्ठुर परिवर्तन को पलट दिया गया।

सावित्री का मानव-जन्म जग की इच्छा का ही परिणाम था। राजा अश्व-पति, जो महान चिंतक और साधक थे, 'सावित्री' की प्रकाशमयी शक्ति को पृथ्वी की आवश्यकता-पूर्ति के लिए उतार कर लाए थे। कवि ने राजा अश्वपति के साधक-रूप का सुन्दर वर्णन किया है। यहां पर आध्यात्मिक और रहस्यमय साधना करने वाले अश्वपति की आध्यात्मिक यात्रा का, चेतना के विभिन्न स्तरों

को पार करते हुए सर्वोच्च चेतना तक पहुंचने का, अत्यन्त सरस वर्णन किया गया है। अपनी प्रकृति के उच्चतर स्वरूप के प्रति जागरूक मानव के प्रतीक अश्वपति की योग-साधना का यह वर्णन श्री अरविन्द-दर्शन के अनुरूप ही है। वह साधारण मानव नहीं था अपितु "उसकी आत्मा तो विशालतर क्षेत्रों से क्षणभंगुर दृष्टि वाले भूतल पर उतरी थी, वह तो अमरत्व से आया एक उपनिवेश बसाने वाला व्यक्ति था। भूतल के संदिग्ध पथों पर वह एक संकेतक किरण था।···उसका ज्ञान दिव्य प्रकाशमय था ··वह अतिमानवीय स्वप्नों का कोषाध्यक्ष था···उसकी आत्मा शाश्वतता की प्रतिनिधि के सदृश जी रही थी, उसका मन स्वर्ग पर आक्रमणरत अग्नि के सदृश था, उसकी इच्छा प्रकाश के पथों की आखेटक थी · उसका प्रत्येक कर्म परमात्मा का चरण-चिह्न अंकित करता था···।" एक जीवन से दूसरे जीवन, एक स्तर से दूसरे स्तर तक यात्रा करते-करते "वह काल-पथों का यात्री शाश्वतता के सीमा-प्रदेशों तक जा पहुंचा।" और तब विश्वजननी की सब सत्ता उसकी सत्ता बन गई, वह अब एक ऋषि "एक ज्योतिर्मय काल-अतिथि" बन गया। तब अश्वपति का सीमित मन असीमित प्रकाश बन गया और उसकी सान्तता अनन्तता से मिल गयी। अब उसने और भी ऊंची यात्रा प्रारंभ की। उसकी गति अब मनुजता से निर्धारित नहीं हो रही थी। "अब तो एक महत्तर सत्ता एक महत्तर विश्व को देख रही थी।" इस अवस्था में अश्वपति का वर्णन अत्यंत प्रभावी है। उस भूमा की मधुमयी अवस्था में, अनन्तता में, शाश्वतता में, पुरुष और प्रकृति के पूर्ण साक्षात्कार की अवस्था में पहुंचकर अश्वपति को यह पृथ्वी अव्यर्थ यात्रारत नहीं लगती थी। जीवन का, विश्व का सब कुछ अर्थ से पूर्ण दिखाई पड़ने लगा था। उसके पार्थिव मन व शरीर का आध्यात्मिक रूपान्तरण हो गया था। उसने परम रहस्यपूर्ण ज्ञान का साक्षात्कार कर लिया था। उसने वहां से मानव की संकीर्णताओं को देख लिया था, ब्रह्म और शक्ति की लीला का दर्शन कर लिया था, प्रकृति की सारी योजनाओं को खुली पुस्तक के समान पढ़ लिया था और अब उसके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं रह गया था। उसकी आत्मा स्वतन्त्र हो गई थी। अब उसने एक-दूसरे ही देश-काल में प्रवेश पा लिया था।

द्वितीय पर्व

द्वितीय पर्व में अश्वपति की साधना का ही और वर्णन मिलता है। उसका लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार या मुक्ति नहीं है। वह पृथ्वी को पूर्ण बनाना चाहता है। अतः वह विराम नहीं करता। अपने पार्थिव मन से ऊपर उठकर योग-दृष्टि से लोक-लोकान्तरों का दर्शन करता है—"लोकों ने अपनी रक्षित शक्तियों को स्वर्गों और स्वर्गों ने अपने गंभीर सुखों को उसके सामने प्रकट कर दिया फिर भी कोई अदृष्ट चुम्बक उसकी आत्मा को खींच रहा था। प्रकृति के भीषण सोपान

पर वह अकेला ही आरोहण करता हुआ अविवेच्य ध्येय की ओर वढ़ रहा था…।" पहले उसने सम्पूर्ण स्थूल जड़तत्त्व को देखा और फिर सूक्ष्म जड़तत्त्व को। तदनंतर वह प्राणशक्ति के उन्नत राज्य में जा पहुंचा। उसने अल्पतर प्राणशक्ति के लोक देखे और अल्पतर प्राणशक्ति के पशु आदि भी देखे जो संघवृत्ति से रहते हैं। फिर उसने अल्पतर शक्ति के देववृन्द देखे। तव वह महत्तर जीवन के साम्राज्य में प्रवेश कर गया। यह चमत्कार, सौंदर्य, आश्चर्य और कल्पना का साम्राज्य था। उसे यहां भी विराम नहीं करना था, आगे ही वढ़ना था। अत: वह विश्व यात्री महत्तर प्राण के लोक की निष्फलता का कारण खोजते-खोजते चेतना के विरोधी महानिशा के प्रदेश में जा पहुंचा। इसका वर्णन अत्यन्त भयंकर रूप में कवि ने किया है। उसने अंधकारमयी विरोधी शक्तियों को देखा जो प्रत्येक को अनिष्ट भावी की ओर ले जाना चाहती थीं, दिव्य प्रकाश के यात्रियों को पथभ्रष्ट करना चाहती थीं। तदनंतर उसमें जड़ और चेतन को मिलकर एक होते देखा। तत्पश्चात् अश्वपति ने प्राण के निम्न प्रदेश से ऊर्ध्वतम प्रदेश में प्रवेश किया। यहां सर्वत्र आनंद ही आनंद व्याप्त था। किन्तु अत्यंत मनोहर इस लोक में भी वह महायात्री नहीं रुका। तव अल्पतर मन के लोक में उसने प्रवेश किया। वहां के देववृन्द को देखने के पश्चात वह महत्तर मन के लोक में जा पहुंचा और वहां के देवों को देखा। तदनंतर वह आदर्श के स्वर्गलोक में जा पहुंचा जहां का एक-एक आदर्श मानव के एक-एक युग का निर्माण करता है। वह आदर्श के लोकों को पार करके और आगे वढ़ा और नीरवता के प्रदेश में जा पहुंचा जहां उसने मनोमय पुरुष की चेतना का साक्षात्कार किया। उसने देखा कि यहां की नीरवता विश्व-जननी है। तव उसने दूर एक द्वार देखा जिसमें से तेजपुंज वाहर निकल रहा था। उसने वहां जाकर विश्वात्मा को देखा और अद्वैत में द्वैत-मूर्ति का दर्शन कर आनन्द-विभोर हो गया। और उस द्वैत-मूर्ति के पीछे उसने प्रातःकालीन धूसरता में भगवती आद्याशक्ति को देखा जो सवका कारण है। योगी अश्वपति उसके प्रकाश, आनन्द, माधुर्य व शक्ति से अभिभूत हो गया और कालातीत समाधि में मग्न हो गया। और जव उसे पुन: भान हुआ तव उसने महत्तर ज्ञान के लोकों का दर्शन किया। अश्वपति को अभी भी संतोप नहीं था क्योंकि उसका लक्ष्य तो पृथ्वी को रूपान्तरित कर दिव्य वनाना था।

तृतीय पर्व

अश्वपति ने आरोहण में अभी अज्ञान का विदारण तो कर लिया था परन्तु चरम सत्य का दर्शन करना अभी शेष था। उस अज्ञेय वस्तु तक अभी वह नहीं पहुंचा था। तदनंतर उसने दिव्य आद्याशक्ति की उपासना की। उसने देखा कि भगवती ने अज्ञेयतत्त्व को प्रकाशित कर दिया है। उसमें ऐसी भावना जगी कि

भगवती माता का प्रेम पृथ्वी को प्राप्त हो जिससे पृथ्वी पर दिव्य जीवन का प्रारम्भ हो। महाशक्ति 'सावित्री' से उसने याचना की किन्तु जब कोई उत्तर नहीं मिला तो अश्वपति ने अपनी प्रकृति के दोषों को बीन-बीन कर निकाल फेंका और उसकी आत्मा जन्मरहित ब्रह्मरूप हो गई। तब उसे नई सृष्टि दिखायी दी—एक दिव्य सृष्टि। तब उसकी प्रार्थना के फलस्वरूप महाशक्ति का उसे अन्तर्दर्शन प्राप्त हुआ और उससे अश्वपति ने पृथ्वी को रूपान्तरित करने के लिए याचना की। उत्तर मिला कि "दुर्बल मानव अनन्त का भार सहन करने का पात्र नहीं है और समयपूर्व सत्य का आविर्भाव अपूर्ण पृथ्वी को नष्ट कर सकता है।" उस शक्ति ने अश्वपति को पृथ्वी के रूपान्तरण के लिए ईश्वर के स्फुलिंग रूप मानव की असीमित क्षमता का बोध कराया और कहा—"युगों से आते हुए उस प्रकाश को छोड़ो मत जिससे वह नष्ट न हो जाए। मानव के अन्धे व पीड़ित जीवन की अभी भी सहायता करो। अपनी आत्मा की विशाल व सर्वसमर्थ प्रेरणा का अनुसरण करो···ज्ञान से विरत मत हो, अधिक श्रम करो···इस कठिन और अनन्त पथ पर बढ़ते चलो।···मेरा प्रकाश तुम में ज्योतित होगा, मेरी शक्ति तुम्हारा बल बनेगी···हृदय में अधीरता मत आने दो, अपूर्ण परिणाम, आंशिक पुरस्कार मत मांगो। मनुष्य जाति को ऊपर उठाने के लिए केवल एक आनंद की याचना करो। अंधी नियति और विरुद्ध शक्तियों के ऊपर एक उच्च अपरिवर्तनीय संकल्प कार्य-शील है। उसकी ही सर्वशक्तिमत्ता पर अपना कर्म-फल छोड़ दो। ईश्वर के रूपान्तरकारी समय में सब कुछ परिवर्तित हो जाएगा।" अश्वपति की प्रार्थना विफल-सी हो गई किन्तु समाधिस्थ अश्वपति की प्रार्थना पर उदार वाणी प्रकट हुई—"हे सशक्त अग्रगामी ! तुम्हारी पुकार मैंने सुन ली है। निश्चित ही पृथ्वी पर कोई अवतरित होगी जो लौह नियम को तोड़ देगी, प्रकृति की अशुभ भावी को एकान्त आत्म-बल से परिवर्तित कर देगी।···स्वर्गीय सौन्दर्य पृथ्वी पर विच-रेगा और अमर प्रेम अपने नीड़ वाले वृक्ष के समान उसकी देह में विराजमान अपने भव्य पंखों को फड़फड़ाएगा···वह भूमि पर रोपी गई स्वर्ग की एक शाखा होगी···निर्विकार संकल्प से नियति बदल जाएगी।" समाधि से जागृत अश्वपति ने जीवन के स्वामी के रूप में पृथ्वी पर अपना कार्य पुनः प्रारंभ कर दिया।

चतुर्थ पर्व

चतुर्थ पर्व में श्री अरविन्द ने दिव्य वाणी के अनुसार ही सावित्री के अवतरित होने का तथा उसकी बाल्यावस्था, उसके शारीरिक एवं आन्तरिक सौन्दर्य का तथा पिता की अनुमति से जीवन-साथी की खोज के लिए निकलने का वर्णन किया है। "उसका हृदय भरा-पुरा आनन्द-मन्दिर था। मानो पूर्णता के भवन में एकाकी दीप जल रहा था। पुजारीरहित मन्दिर में वह कान्तिमयी पवित्र मूर्ति थी।" अश्वपति

ने उसे जीवन-साथी की खोज में जाने के लिए कहा था—"हे शाश्वतता की यात्री आत्मा ! तू अपने जीवन का एक भव्य जोखिम उठाने के लिए सज्जित होकर, इस 'दैवयोग' और 'काल' के ऊपर अपने विजयी चरणों को रखने के लिए अमर प्रदेशों से आई है··· एक परम शक्तिशाली अभी तेरी रक्षा करता रहता है।···हे प्रेम के सौन्दर्य की जीवित लिपि ! तेरे स्वर्णिम कौमार्य में दिव्य शक्ति और आनन्द का जो संदेशा लिखा है·· कोई उसे खोज लेगा और उससे अपने जीवन को धन्य करेगा।···जो तेरे अन्तर में मौन है उसे वाणी देगा···।"

वस इस वाणी से प्रेरित होकर सावित्री चल पड़ी और उसके सम्मुख जगत के सारे अनदेखे मार्ग खुल गए। वह अनेक देशों में गई। पर्वतों, वनों और मरुस्थलों तथा नाना देशों को पार करती हुई वह वढ़ती चली गई परन्तु उसे अभी वह जीवन-साथी नहीं मिला जिसकी खोज में वह चली थी।

पंचम पर्व

पंचम पर्व में महाकवि ने सावित्री की सत्यवान से विधि-निर्दिष्ट भेंट का वर्णन, सत्यवान का वर्णन तथा उनके पारस्परिक प्रेममय जीवन का सुन्दर वर्णन किया है। भाग्य की प्रतारणा से वन में रहने को वाध्य सत्यवान को वन में देखते ही सावित्री उस पर मुग्ध हो उठी। दोनों ने एक-दूसरे को देखा और ऐसे पहचान लिया जैसे जन्म-जन्मान्तर से परिचित रहे हों।" एक वेला का यह प्रारम्भ था जो नए काल की विधात्री थी।" पहले सत्यवान ने सावित्री को आदरपूर्वक सम्वोधित करते हुए अपनी कुटिया में पधारने का निमंत्रण दिया। सावित्री ने सत्यवान को अपना परिचय दिया, परिचय पूछा भी। सत्यवान ने जो कुछ वताया, उससे सावित्री प्रभावित हो उठी। सत्यवान ने उसके प्रति अपने प्रेम को अत्यन्त भव्य भाषा में अभिव्यक्त किया —"दीप्त सौन्दर्य की रानी सावित्री ! मेरे आनन्द और अपने उल्लास से वाध्य होकर मेरे जीवन में प्रवेश करो जो तुम्हारा मन्दिर है, देवालय है।" सावित्री भी भाव-विभोर होकर कह उठी—"हे सत्यवान! मैंने तुम्हारे शब्दों को सुना और मैं जानती हूं कि तुम वही हो, केवल तुम ही वह हो।"

तदनन्तर सावित्री ने रथ से उतरकर सुगन्धित एवं सुन्दर रंगों वाली पुष्प-माला वनाकर सत्यवान को पहना दी और पूजा के भाव से उसके चरणों का स्पर्श किया। सत्यवान ने सावित्री को आलिंगन में भर लिया। दोनों क्षण भर को एक-दूसरे में खो गए। सावित्री की सम्पूर्ण चेतना सत्यवान की उसी प्रकार लहर बन गई जैसे कोई आत्मा परमब्रह्म की लहर होती है। उनके तादात्म्य ने एक महत्तर युग का वीजारोपण कर दिया था।

सावित्री फिर सत्यवान से विदा लेकर पितृ-गृह गई और शीघ्र लौटने का आश्वासन दे गई।

षष्ठ पर्व

महाकवि ने षष्ठ सर्ग में विश्वयात्री नारद ऋषि का अश्वपति के भवन में आना, सावित्री का उसी समय घर पहुंचना, नारद के पूछने पर सत्यवान को पति रूप में चुनने का निर्णय वताना, नारद द्वारा सत्यवान की प्रशंसा तो करना किन्तु आयु के केवल वारह मास ही शेष रह गए हैं, यह भविष्यवाणी करना, सावित्री से माता का विचार बदलने और नया वर चुनने का आग्रह करना, सावित्री का निश्चय पर दृढ़ रहना, नारद-अश्वपति-रानी के संवाद में भाग्य और कष्ट की समस्या पर विचार होना, आदि के पश्चात नारद का अन्तर्धान होना अत्यन्त कुशलता से वर्णित किया है।

सावित्री के शब्दों में अद्भुत निष्ठा दर्शनीय है—"मेरा संकल्प, शाश्वत संकल्प का अंश है, मेरा भाग्य वही है जो मेरी आत्मा की शक्ति रचेगी, मेरा भाग्य वही है जो मेरी आत्मा की शक्ति धारण करेगी, मेरी शक्ति आसुरी नहीं दिव्य है।···मानवों की साधारण आत्मा या नेत्र व अधर जो सत्यवान के नहीं हैं, मेरे लिए क्या हैं? उसकी भुजाओं से बाहर आकर, उसके अन्वेषित प्रेम-स्वर्ग से वापस आने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। मैं अपने जन्म की सार्थकता सत्यवान में अपनी आत्मा को देखने में ही पाती हूं।···मुझे यदि एक वर्ष ही मिला तो बस वह ही मेरा समग्र जीवन होगा किन्तु फिर भी मैं यह जानती हूं कि मेरा इतना-सा ही भाग्य नहीं है कि जीवित रहूं, क्षण भर प्रेम करूं, और मर जाऊं। क्योंकि मुझे अब पता है कि मेरी आत्मा पृथ्वीप र क्यों आई थी और मैं कौन हूं और वह कौन है जिसे मैं प्रेम करती हूं। मैंने उसको अपने अमर 'स्व' से ही देखा था, मैंने सत्यवान में ईश्वर को ही अपने प्रति मुस्कराता देखा था। मैंने मानव-मुख में शाश्वत भगवान को ही देखा है।"

सप्तम पर्व

सप्तम पर्व में मद्र देश की राजकुमारी सावित्री का शाल्वदेश के वन में पति सत्यवान से मिलना और उसके पश्चात् सावित्री द्वारा अंतरात्मा की खोज, गहरी चेतना के आंतरिक प्रदेशों में प्रवेश इत्यादि का अत्यन्त गंभीर एवं रोचक वर्णन है। सावित्री ने आत्मा का साक्षात्कार किया और फिर वह सुखी हो गई। अब "अनन्तता ही उसका स्वाभाविक घर बन गया था···वह सभी आत्माओं की एक आत्मा हो गई थी, वह उनमें थी और वे उनमें थे। वह 'काल' थी और काल में ईश्वर के स्वप्न भी। वह दिक् थी···और वहां से आरोहण करके वह वहां गई जहां न काल था, न दिक्।"

अष्टम पर्व

अष्टम पर्व में महाकवि ने वन में लड़की काटने के लिए जाते सत्यवान के साथ सास की आज्ञा से जाती सावित्री, सत्यवान को शिर इत्यादि में पीड़ा का अनुभव होने, विश्राम के लिए लेटने और अन्ततः मृत्यु हो जाने का सजीव वर्णन किया है।

अन्तिम चार पर्व

उस विस्तृत अरण्य में एकाकी सावित्री ने मृत्यु के देवता यमराज को देखा, पति की मृत देह को देखा और क्षण-भर को दुखी होने के पश्चात् ही उसमें परिवर्तन आया और वह यमराज का सामना करने को तत्पर हो गई। सत्यवान की आत्मा लेकर यमराज चल पड़ा तो सावित्री ने उसका अनुसरण किया। यमराज कर्कश स्वर में उसे लौटने को कहता रहा किन्तु सावित्री फिर भी बढ़ती ही गई। शाश्वत रात्रि में वह यात्रा करती रही। यमराज उसकी शक्ति से चकित हो उठा। यम ने उसे वरदानों का आश्वासन दिया तथा भावी अनिष्ट का भय भी दिखाया किन्तु सावित्री ने कहा—"हे मृत्यु ! मैं तेरे प्रति नतमस्तक नहीं हो सकती। मैं तुझसे भीख नहीं माँगती। मैं तेरे समान ही आत्मा हूं। मेरा संकल्न-बल ही मेरा ईश्वर है। मेरा प्रेम ही मेरा ईश्वर है। मुझे संकल्प-पूर्ति के लिए केवल सत्यवान चाहिए।" यमराज ने उसे तर्कपूर्वक समझाना चाहा किन्तु सावित्री ने कहा—"हे मृत्यु ! तुम तर्क करते हो, किन्तु मैं तर्क नहीं करती। तर्क ऐसा, कि खण्डन तो करता है, परन्तु या तो निर्माण ही नहीं कर पाता या निर्माण करता भी है तो व्यर्थ निर्माण करता है क्योंकि वह स्वयं अपने कार्य पर सन्देह करता है। मैं हूं, मैं प्रेम करती हूं,मैं देखती हूं, मैं कार्य करती हूं, मैं संकल्प करती हूं।" यमराज ने उसे ज्ञान का महत्त्व बताया तो सावित्री ने कहा—"जब मैंने सदैव के लिए प्रेम किया है, तो मुझे ज्ञान भी प्राप्त होगा ही।...मानव जन्मा ही इसलिए है कि हे मृत्यु ! तुम पर विजय पा सके।"

सावित्री आदर्शों के स्वप्निल प्रकाश के क्षेत्र में भी यमराज के पीछे चलती रही। यमराज ने उसे अनेक वर दिए यथा—सत्यवान के पिता को पुनः दृष्टि-प्राप्ति, उन्हें पुनः राज्य-प्राप्ति आदि। किन्तु सावित्री फिर भी लौटी नहीं तो यमराज ने उसे फिर समझाया किन्तु प्रेम और मृत्यु के संवाद में प्रेम विजयी रहा। सावित्री के मन में दृढ़ संकल्प था जो उसकी वाणी में अभिव्यक्त होता रहा। बाद में एक उतार का स्थान आया जहां विविध आदर्श, प्रणालियां आदि स्वयं को 'शाश्वत' कहते सुनाई पड़ रहे थे। यहां यमराज ने सावित्री से कहा कि यदि वह स्वयं को आत्मरूप मानती है तो केवल ईश्वर की ओर मुड़े और प्रेम व सत्यवान का विस्मरण

कर दे। किन्तु सावित्री ने उत्तर दिया कि यह संसार भी ईश्वर से पृथक नहीं है। यमराज ने उसे स्थापित नियमों का पालन करने का उपदेश दिया। तब तो सावित्री ने यह कहकर उसका तर्क काट दिया कि यदि अपरिवर्तनशील नियम सब कुछ हों तब आत्मा की शक्ति तो व्यर्थ हो गई। स्थायी नियम पशु के लिए तो चल सकते हैं पर दिव्य मानव के लिए नहीं। अंत तक सावित्री यम का अनुसरण करती रही और उसकी बातों का उत्तर भी देती रही। अंततः ईश्वरेच्छा से यम को ईश्वरीय प्रकाश ने आत्मसात कर लिया और उसकी छाया लुप्त हो गई। यहां रह गए केवल सावित्री और सत्यवान।

तब ईश्वरीय वाणी ने सावित्री को अव्यक्त सत्यवान में अपने आपको खो देने तथा मनुष्य जाति को अपनी मंदगति से विकास यात्रा करते रहने देने का परामर्श दिया किन्तु सावित्री ने यह स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसकी और सत्यवान की आत्मा विश्व को ईश्वर तक ले जाने और ईश्वर को विश्व में अवतरित करने के लिए वचनबद्ध थे। तब ईश्वरीय वाणी ने उसे तदर्थ ईश्वर, मनुष्य और विश्व के सत्य की खोज करने का निर्देश दिया।

अन्तिम पर्व में दृश्य परिवर्तित हो जाता है और सावित्री शाल्व देश के उसी वन में सत्यवान के जीवित शरीर का स्पर्श करती है। सत्यवान ऐसे जीवित हो उठा मानो सोकर उठा हो। सत्यवान ने सावित्री को देखा तो उसमें अद्भुत परिवर्तन पाया। उसने कहा—"अरे सावित्री, तुझमें कितना परिवर्तन हो गया है? तू सदैव तेजोमय थी··· किन्तु अब तो तू और भी दिव्य हो गई है।···अब तो तू मानवी पूजा के बहुत ऊपर उठ गई है।··सारा विश्व तेरा अंश मात्र दिखाई पड़ता है! ···तेरे द्वारा मेरा मानवीय जीवन तो बढ़ा ही है किन्तु अब तो तू स्वर्ग का अक्षय-अनन्त भण्डार ही अमित भेंट के स्वरूप ले आई है।" किन्तु सावित्री ने धीरे से यही कहा—"हां, सब-कुछ बदल गया है, किन्तु फिर भी सब-कुछ वही है। हमने ईश्वर का दर्शन कर लिया है, हमारा जीवन दिव्यता के साथ खुल गया है। हम उस परम तत्त्व के साथ तादात्म्य पा चुके हैं और अपने मरणशील जीवनों में उसका आशय जान चुके हैं। हमारा प्रेम उस सशक्त स्पर्श से अधिक शक्तिशाली हो उठा है···।" और तब सावित्री और सत्यवान उस संध्याकाल में कुटिया की ओर चल पड़े। वहां द्युमत्सेन ने (यम द्वारा सावित्री को दिए वरदान से प्राप्त) अपने नये नेत्रों से उन्हें देखा और दोनों को गले लगा लिया। वहां अनेक पुरोहित और योद्धा आदि उनके पास पुनः राज्य-प्राप्ति का शुभ निमंत्रण लेकर आए हुए थे। मशालें जल रही थीं। द्युमत्सेन को कुछ पता नहीं था। अतः उसने पूछा कि इतनी देर से वे लोक जंगल से वापस क्यों आए। सत्यवान ने मुस्कराते हुए कहा—"यह सावित्री के ही कारण हुआ। उसके जादू ने मुझे बांध लिया है। देखिए, मध्याह्न में मैं इस मिट्टी के घर को छोड़कर (देह-त्याग करके) सुदूर शाश्वतताओं में विचरता रहा

तब भी उसके स्वर्णिम हाथों में बंदी बना हुआ यहां पृथ्वी पर उपस्थित हूं, जीवित हूं···" तब तो आश्चर्य से सब लोगों की दृष्टि सावित्री पर जा टिकी और सभी के मनों में एक ही विचार जाग्रत हुआ—

"अरे पृथ्वी या आकाश का यह कौन-सा कांतिमान चमत्कार है
जो मानव सत्यवान के पास मौन खड़ा है
जो संध्या के धूसर में भी कांति बिखेर रहा है ?
यदि यह वही है जिसके विषय में विश्व ने सुन रखा है
तो किसी भी सुखद परिवर्तन पर चकित होने की बात नहीं···।"

तब एक ऋषि ने पूछा—"हे नारी आत्मा ! आज के यह तीव्र परिवर्तन करने वाला वह कौन-सा प्रकाश है, कौन-सी शक्ति है जो हमारे लिए तेरे द्वारा अधिक सुखकर युग का आरम्भ करेगी ?" सावित्री ने उत्तर दिया—

हे ऋषि ! अपने हृदय का यह आशय समझ चुकी हूं
कि प्रेम और एकता का अनुभव करना ही जीवन है
और यही हमारे स्वर्णिम परिवर्तन का जादू है
बस इतना ही सत्य मैं जानती हूं, खोज चुकी हूं।"

उसके व्यक्तित्व और शब्दों पर आश्चर्य करते हुए वे सब लोग पश्चिम की ओर चल पड़े। मशालों के प्रकाश में सब चले जा रहे थे, तब सावित्री और सत्यवान दोनों हाथ में हाथ डाले जा रहे थे, मानो उनकी बरात जा रही हो। वे अपने नगर की सीमा पर जा पहुंचे। उस समय आकाश में चन्द्रमा खिला हुआ था और रात्रि "अपने अंतर में एक महत्तर ऊषा का पोषण कर रही थी।" बस यहीं पर महाकाव्य समाप्त होता है।

इस प्रकार श्री अरविन्द का यह महाकाव्य एक अद्भुत महाकाव्य है। निस्सन्देह यह उनके सारे जीवन का सारतत्त्व प्रस्तुत करता है—अत्यन्त गरिमा, महिमा, सरसता और भव्यता के साथ।

१०. श्री अरविन्द-साहित्य

श्री अरविन्द की कविताएं

श्री अरविन्द की काव्य-रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है 'सावित्री' महाकाव्य किन्तु अन्य रचनाओं की संख्या भी बहुत बड़ी है। ये कविताएं उनके इंग्लैण्ड रहने के काल (१८६०) से लेकर उनके देहावसान (१६५०) तक के बीच रचित हैं, तथा विविध प्रकार की हैं। इनकी एक सूची मात्र ही यहां दी जा रही है क्योंकि उनका विवेचन या परिचय एक पूरे ग्रन्थ का विषय है।

(क) लघु कविताएं

(अ) १८६०-१६३० के बीच रचित

१. सांग्स टू मिर्टिला
२. परफेक्ट दाई मोशन
३. फ़ेथन
४. टू ए हीरो वर्शिपर
५. एस्टेले
६. ओ कोयल, कोयल
७. हिक जाकेट
८. लाइन्स आन आयरलैण्ड
६. चार्ल्स स्टेवर्ट पारनेल
१०. नाइट बाइ दी सी
११. ए थिंग सीन
१२. दी लवर्स कम्प्लेण्ट
१३. लव इन सारो
१४. दी आइलैण्ड ग्रेव
१५. बंकिमचन्द्र चटर्जी

१६. सरस्वती विध दी लोटस
१७. गेटे
१८. दी लास्ट डेलीवरर
१९. मधुसूदन दत्त
२०. एन्व्वाय
२१. दी स्प्रिंग चाइल्ड
२२. सिन्स आई हैव सीन योर फ़ेस
२३. यूफ़्रोसाइन
२४. दी नाइटिंगेल
२५. साँग
२६. एपीग्राम
२७. दी थ्री क्राइज़ आफ़ डेफ़ोंवस
२८. एपीटाफ़
२९. ए डाउट
३०. पेरीग्यून प्रोलोग्यूज़े
३१. इन्वीटेशन
३२. हू
३३. रेमिनिसेंस
३४. ए विज़न आफ़ साय़ंस
३५. इम्मार्टल लव
३६. टू दी सी
३७. दी सी ऐट नाइट
३८. ईवनिंग
३९. रेविलेशन
४०. ए ट्री
४१. ए चाइल्ड्स इमेजिनेशन
४२. मिरेकिल्स
४३. दी वेदान्तिन्स प्रेयर
४४. आन दी माउंटेन्स
४५. रिवर्थ
४६. सीज़न्स
४७. दी ट्रयम्फ़ साँग आफ़ त्रिशंकु
४८. दी फियर आफ़ डेथ
४९. लाइफ़ ऐण्ड डेथ

५०. इन दी मून लाइट
५१. परब्रह्म
५२. गॉड
५३. दी मदर आफ़ ड्रीम्स
५४. दी वर्थ आफ़ सिन
५५. एपिफेनी
५६. टू आर
५७. दी राक्षसाज़
५८. काम
५९. कामदेव
६०. दी महात्माज़
६१. दी मेडिटेशन्स आफ़ माण्डव्य
६२. हेल ऐण्ड हेविन
६३. लाइफ़

(आ) १९३०-१९५० के बीच रचित

६४. ए गाड्स लेबर
६५. ब्राइड आफ़ दी फ़ायर
६६. दी ब्लू बर्ड
६७. दी मदर आफ गॉड
६८. दी आइलैंड सन
६९. साइलेंस इज़ आल
७०. इज़ दिस दी एण्ड
७१. हू आर्ट दाउ दैट कम्स्ट
७२. वन डे
७३. दी ड्वार्फ नैपोलियन
७४. दी चिल्ड्रेन आफ़ वोटन
७५. डिस्पेयर आन दी स्टेयरकेस
७६. सुर्रियलिस्ट

(इ) अधूरी रचनाएं

७७. मारकण्डेय
७८. ए व्वायस एरोज़
७९. आइ वाक्ड बीसायड दी वाटर्स

८०. उर्वशी
८१. दी कॉस्मिक मैन

(ख) सानेट

(अ) *प्रारम्भिक*

८२. टू दी कुक्कू
८३. ट्रांजिट, नॉन पेरीट
८४. व्हाट इज़ दिस टाक
८५. टू वीप विकाज़ ए ग्लोरियस सन
८६. आई हैव ए हण्ड्रेड लाइव्स

(आ) *१९३०-५० के बीच रचित*

८७. दी किंगडम विदिन
८८. दी योगी आन दी व्हर्लपूल
८९. दी डिवायन हियरिंग
९०. इलेक्ट्रॉन
९१. दी इनड्वेलिंग यूनिवर्सल
९२. दी विटनेस स्प्रिट
९३. दी हिडेन प्लान
९४. दी इनकान्शियेण्ट
९५. लिबरेशन
९६. कॉस्मिक कांशसनेस
९७. दी गोल्डेन लाइट
९८. लाइफ-यूनिटी
९९. ब्लिस आफ आइडेंटिटी
१००. दी आयरन डिक्टेटर्स
१०१. फ़ॉर्म
१०२. दी इनफायनाइट ऐडवेंचर
१०३. दी ग्रेटर प्लान
१०४. दी यूनिवर्सल इनकारनेशन
१०५. दी गॉडहेड
१०६. दी स्टोन-गॉडेस
१०७. कृष्ण
१०८. दी कॉस्मिक डान्स

१०९. शिव
११०. दी वर्ल्ड आफ़ दी साइलेंस
१११. दी डुअल वीइंग
११२. दी सेल्फलेस इनफ़िनिटी
११३. लीला
११४. सरेण्डर
११५. दी गेस्ट
११६. दी इनर सॉवरेन
११७. दी कान्शस इनकांशियेण्ट
११८. ए ड्रीम आफ़ सुरियल साइंस
११९. इन दी वैटिल
१२०. दी लिटिल एगो
१२१. दी मिरेकिल आफ़ वर्थ
१२२. मोमेंट्स
१२३. दी व्लिस आफ़ ब्रह्म
१२४. दी ह्यूमन इनिग्मा
१२५. दी वॉडी
१२६. लिवरेशन
१२७. लाइट
१२८. दी अनसीन इनफायनाइट
१२९. सेल्फ़
१३०. दी कॉस्मिक स्प्रिट
१३१. आई
१३२. ऑम्नीप्रिज़ेंस
१३३. दी इनकांशियेण्ट फाउण्डेशन
१३४. अद्वैत
१३५. दी हिल-टाप टेम्पल
१३६. विकाज़ दाउ आर्ट
१३७. डिवायन साइट
१३८. डिवायन सेंस
१३९. इम्पार्टेलिटी
१४०. मैन, दी डेस्पॉट आफ कण्ट्रेरीज़
१४१. एवोल्यूशन
१४२. दी सिल्वर काल

१४३. दी इनर फील्ड्स
१४४. ट्रांसफ़ार्मेशन
१४५. निर्वाण
१४६. दी अदर अर्थ्स
१४७. कण्ट्रास्ट्स
१४८. मैन, दी थिंकिग एनीमल
१४९. दी डम्ब इनकांशिएण्ट
१५०. दी इनफ़ायनाइटेसिमल इनफ़ायनाइट
१५१. एवोल्यूशन
१५२. दी वन सेल्फ़
१५३. आवर गॉडहेड काल्स अस
१५४. डिस्कवरीज़ आफ़ सायन्स (१)
१५५. डिस्कवरीज़ आफ़ सायन्स (२)
१५६. डिस्कवरीज़ आफ़ सायन्स (३)

(ग) लम्बी कविताएं

१५७. दी विजिल आफ़ तेलियार्ड
१५८. उर्वशी
१५९. लव ऐण्ड डेथ
१६०. खालेड आफ़ दी सी
१६१. बाजीप्रभु
१६२. दी ऋषि
१६३. चित्रांगदा
१६४. उलूपी
१६५. दी टेल आफ़ नल
१६६. इलियोन
१६७. अहना
१६८. दी डिसेण्ट आफ़ अहना
१६९. ऐन आन्सर टू ए क्रिटिसिज्म

(घ) नए छन्दों की रचनाएं

(अ) पूर्ण रचनाएं

१७०. ओशन वननेस

१७१. ट्रांस आफ वेटिंग
१७२. फ्लेम-विंड
१७३. दी रिवर
१७४. दी ड्रीम बांट
१७५. डिसेण्ट
१७६. दी लास्ट वोट
१७७. रिन्यूअल
१७८. सोल्स सीन
१७९. एसेण्ट १. दी साइलेंस
२. वीहाइंड दी साइलेंस
१८०. दी टाइगर ऐण्ड दी डियर
१८१. सोल इन दी इग्नोरेंस
१८२. जरनीज़ एण्ड
१८३. दी वर्ड आफ फायर
१८४. ट्रांस
१८५. शिव, दी इनकांशिएण्ट क्रियेटर
१८६. दी लाइफ हेविन्स
१८७. जीवन्मुक्त
१८८. इन होरिस एटरनम
१८९. थॉट दि पाराक्लेट
१९०. मून आफ टू हेमेस्फियर्स
१९१. रोज़ आफ गाड
१९२. म्यज़ा स्प्रिट्स
१९३. कृष्ण
१९४. दी वर्ल्ड गेम
१९५. सिम्बल मून
१९६. ओ पाल आफ ब्लैकनाइट
१९७. ए स्ट्रांग सन आफ आइटनिंग
१९८. ऐन इमेज
१९९. हेल टू दी फालिन
२००. इन ए माउंटेन ऐज़ आफ सी-टाइड्स
२०१. दी डेथ आफ ए गॉड
२०२. सोल, माई सोल

(आ) अधूरी रचनाएं

२०३. इन दी साइलेंस आफ मिड नाइट
२०४. सीअर डीप-हार्टेड
२०५. डेथ ऐण्ड दी ट्रैवलर फायर
२०६. टॉर्न आर दी वाल्स
२०७. दी फायर किंग ऐण्ड दी मेसेंजर
२०८. सिल्वरफोम
२०९. वास्ट-विग्ड दी विंड
२१०. टिरेसियस
२११. ओह यी पावर्स
२१२. गॉड टू दाइ ग्रेटनेस

नाट्य कृतियां व कहानियां

श्री अरविन्द की नाट्य कृतियां उनके साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग हैं अत: उनकी नाट्य कृतियों का भी एक अति संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है —

१. मुक्तिदाता परसियस (परसियस दि डिलीवरर)

श्री अरविन्द की कृति 'मुक्तिदाता परसिबस' (परसियस दि डिलीवरर) का प्रथम प्रकाशन 'वन्देमातरम्' (१९०७) में हुआ था। बाद में उसे श्री अरविन्द के काव्य व नाट्य-संग्रह (१९४२) में प्रकाशित किया गया था किंतु दूसरे अंक केदृश्य २ व ३ उसमें अनुपलब्ध होने से छप नहीं सके थे किन्तु १९५५ के संस्करण में समाविष्ट कर दिए गए थे।

इस कृति में परसियस की यूनानी कथा को स्वच्छन्दता के साथ नाटक का विषय बनाया गया है। और यूनानी ढंग की अपेक्षा उसे एलिजबेथीय नाट्य-युग में ढाला गया है।

२. वासवदत्ता

संस्कृत साहित्य में कौशाम्बी-नरेश वत्स उदयन और अवन्ती की राजकुमारी वासवदत्ता की जो प्रेम-कथा अत्यधिक प्रसिद्ध रही है उसी को विषय बनाकर यह नाट्य कृति 'वासवदत्ता' श्री अरविन्द ने १९१५-१९१६ में पुनः संशोधित करके पूर्ण कर दी थी।

३. रोदोगुने

श्री अरविन्द की नाट्य कृति 'रोदोगुने' सीरिया के इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखित है। रोदोगुने पार्थिया की राजकुमारी है और सीरिया की रानी क्लियोपेट्रा की वन्दी अवस्था में दासी बनती है। यह नाट्य कृति १९०६ में लिखी गई थी किन्तु सर्वप्रथम श्री अरविन्द मन्दिर ऐनुअल में १९५८ में प्रकाशित हुई थी तथा उसी वर्ष पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई थी।

४. एरिक

श्री अरविन्द की नाट्यकृति 'एरिक' १९१२-१३ में पूर्ण हो चुकी थी किन्तु श्री अरविन्द मंदिर ऐनुअल से १९६० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई और उसी वर्ष पुस्तकाकार भी। यह एक नाट्य प्रेम-कथा है।

५. वासोरा के अमात्यगण (दि विजीर्स आफ वासोरा)

श्री अरविन्द की नाट्य कृति 'वासोरा के अमात्यगण' (दी विजीर्स आफ वासोरा) बड़ौदा-काल की रचना है किन्तु वीच में वह उपलब्ध नहीं थी। कालांतर में राजकीय संग्रहालय में १९५१ में वह अन्य सामग्री के साथ (जो अलीपुर काण्ड के मुकदमे में पुलिस द्वारा प्रस्तुत की गयी थी) मिल गई और श्री अरविन्द मंदिर ऐनुअल में १९५९ में प्रकाशित हुई थी और उसी वर्ष पुस्तकाकार भी प्रकाशित की गई थी। इस कृति में प्रसिद्ध खलीफा हारूं अल रसीद भी एक पात्र है और उसके दो अमात्य 'अलफ ज्जल इब्न सावी' और 'अलमुईन विन खाकन' मुख्य पात्र हैं।

६. एदुर का राजा (प्रिंस आफ एदुर)

श्री अरविन्द की नाट्य कृति 'एदुर का राजा' (प्रिंस आफ एदुर) एदुर राज्य के राठौर राजा करण के समकालीन गहलौत वंश के राजकुमार वाप्पा रावल (महाराणा सांगा व प्रताप के पूर्वज), जो भीलों में शरण पाकर दुर्दिन व्यतीत कर रहा था, से सम्बन्धित है।

७. विक्रमोर्वशी (दि हीरो ऐण्ड दि निम्फ)

श्री अरविन्द की कृति 'विक्रमोर्वशी' (दि हीरो ऐण्ड दि निम्फ) कालिदास के संस्कृत नाटक 'विक्रमोर्वशी' का अनुवाद है जो बड़ौदा-काल में किया गया था।

८. पाप का जन्म (दि वर्थ आफ सिन)

श्री अरविन्द की नाट्य कृति 'पाप का जन्म' (दि अर्थ आफ सिन) काव्य व नाट्य-संग्रह (१९४२) में प्रकाशित काव्यात्मक संवाद का ही नाट्य रूपान्तर है।

९. मिल में युवती (दि मेड इन दि मिल)

श्री अरविन्द की नाट्य कृति 'मिल में युवती' (दि मेड इन दि मिल) एक अधूरी नाट्य कृति है। यह बड़ौदा-काल की प्रारंभिक रचना है। १९६२ में यह सर्वप्रथम श्री अरविन्द मंदिर ऐनुअल में प्रकाशित हुई थी। इसका एक अंक ५ दृश्यों में पूर्ण है किन्तु दूसरे अंक में बहुत थोड़ी पंक्तियां ही लिखी जा सकी थीं।

१०. ब्रूट का घर (दि हाउस आफ ब्रूट)

श्री अरविन्द की नाट्य कृति 'ब्रूट का घर' (दि हाउस आफ ब्रूट) भी एक अधूरी नाट्य कृति है। इसका प्रकाशन भी श्री अरविन्द मंदिर ऐनुअल में १९६२ में हुआ था। ब्रिटेन के राजा ब्रूटस तथा उसके तीन पुत्र इत्यादि इसमें पात्र हैं। इस कृति का पहला अंक भी पूर्ण नहीं है।

११. इलनी की जादूगरनी (दि विच आफ इलनी)

श्री अरविन्द की नाट्य कृति 'इलनी की जादूगरनी' (दि विच आफ इलनी) उनके विद्यार्थी-जीवन (१८९१) की रचना है। इसका प्रथम अंक तीन दृश्यों में पूर्ण है किन्तु दूसरे अंक की बहुत थोड़ी पंक्तियों के बाद रचना अधूरी छूट गयी थी।

१२. एक अन्य अधूरी नाट्य कृति

श्री अरविन्द की एक अन्य अधूरी नाट्य कृति, जो उनके विद्यार्थी-जीवन की ही रचना है, के भी कुछ पृष्ठ मिले हैं। यह नाम-रहित कृति है और इसमें दो पात्रों का ही संवाद मिलता है।

१३. श्री अरविन्द की कहानियां

श्री अरविन्द कृत कुछ कहानियों का भी उल्लेख आवश्यक है। ये हैं—'दी फेण्टम आवर', 'दि डोर ऐट एवेलार्ड (अपूर्ण), 'दि डेविल्स मास्टिफ' (अपूर्ण) तथा 'दि गोल्डन वर्ड' (प्रतीकात्मक)। ये सभी कहानियां श्री अरविन्द ने पांडी-चेरी में प्रारम्भ में ही लिखी थीं।

श्री अरविन्द के अनुवाद

वड़ौदा के ऐडवोकेट श्री आर० एन० पाटकर ने, जो श्री अरविन्द के विद्यार्थी रहे थे, एक घटना का उल्लेख किया है। एक बार विद्यार्थी-जीवन में उन्होंने श्री अरविन्द से श्री रमेशचन्द्र दत्त का कवि के रूप में उल्लेख किया तो श्री अरविन्द ने कहा—"क्या तुम रमेशचन्द्र दत्त को कवि समझते हो? नहीं, तुम अधिक से अधिक उनको तुकवादी कह सकते हो। जो छन्दोवद्ध रचना करे, वे कवि होंगे ही, यह आवश्यक नहीं है। गद्य-लेखक भी कवि हो सकता है, यदि उसमें कवित्व हो।"

श्री अरविन्द का यह उत्तर सामान्य पाठक को दंभपूर्ण लग सकता है किन्तु इसकी सत्यता तब स्पष्ट होती है जब हम श्री रमेशचन्द्र दत्त को वड़ौदा में उनके अनुवाद-कार्य को देखकर यह कहते पाते हैं कि यदि उन्हें पहले ज्ञात होता कि श्री अरविन्द इतनी उत्कृष्टता से अनुवाद कर रहे हैं तो वह अपने ग्रन्थ प्रकाशित ही नहीं कराते क्योंकि इनके सामने वे वालक्रीड़ा-जैसे हैं। अरविन्द, विद्वान समीक्षकों की कसौटियों में, सचमुच एक महान अनुवादक सिद्ध हुए हैं।

अनुवाद के लिए संस्कृत वाङ्मय में उनकी दृष्टि वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, गीता, मालविकाग्निमित्र, रघुवंश, कुमारसंभव, भर्तृहरि नीतिशतक तथा शंकराचार्य के स्तोत्रों पर गई।

वेद के अनेक सूक्तों तथा प्रसिद्ध उपनिषदों का उनका अनुवाद अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। उन्होंने वाल्मीकीय रामायण के छह स्थलों को चुना है। श्री अरविन्द ने बालकाण्ड सर्ग ५, अयोध्याकाण्ड सर्ग २।२।१-२० व सर्ग २०।१।३६-५५ व सर्ग २६-३० तथा युद्धकाण्ड सर्ग ५२।१-४ का पद्यवद्ध अनुवाद किया है और अरण्यकाण्ड में प्रारम्भिक तीन सर्गों का गद्यानुवाद।

महाभारत के अन्तर्गत उन्होंने कुछ विशिष्ट स्थलों को चुना था। सभापर्व में सर्ग १-४, सर्ग १३ से १७ के श्लोक १० तक तथा सर्ग २०, २१, २२ व २४ का उन्होंने काव्यवद्ध अनुवाद किया तथा उद्योग-पर्व में प्रथम सर्ग का गद्यानुवाद भी। उनकी 'चित्रांगदा', 'उलूपी', 'विदुला' तथा 'नलकथा' भी अत्यन्त प्रभावी काव्य-रचनाएं हैं जो महाभारत पर ही आधारित हैं। भगवद्गीता के प्रारम्भिक छह अध्यायों का अत्यन्त ललित अनुवाद भी यहाँ उल्लेख्य है।

श्री अरविन्द ने कालिदास कृत ग्रंथों में कुमारसंभव के सर्ग १-२, रघुवंश के कुछ श्लोकों (१-१०) तथा मालविकाग्निमित्र का अनुवाद किया है। भर्तृहरि नीतिशतक का अनुवाद उन्होंने 'दी सेंचुरी आफ लाइफ़' के नाम से किया है। शंकराचार्य कृत 'भवानी-स्तोत्र' का भी उन्होंने सुन्दर अनुवाद किया है।

वंग-काव्य में से भी उन्होंने अनेक रचवाओं को अंग्रेजी में अनूदित किया था।

स्वरचित 'दुर्गा-स्तोत्र' के अतिरिक्त विद्यापति के ४१ गीत, निधु बाबू की २० कविताएं, होरू ठाकुर की ७ कविताएं, ज्ञानदास की ७ कविताएं, चण्डीदास की ३ कविताएं, द्विजेन्द्रलाल की एक कविता, दिलीप राय कुमार राय की तीन कविताएं, अनिल राय की दो कविताएं तथा निशिकान्त की एक कविता के अतिरिक्त उन्होंने बंकिम बाबू के प्रसिद्ध 'आनंदमठ' का गद्यानुवाद तथा साहू नवज्योतिर्मयी व अरुण की एक-एक रचना अनूदित की है। एक रोचक बात यह है कि अरुण की रचना श्री अरविन्द के प्रति ही लिखी गई है और स्वयं श्री अरविन्द द्वारा उसका 'दी न्यू क्रियेटर' के नाम से अनुवाद सुन्दर लगता है। देशबन्धु चित्तरंजनदास कृत 'सागर संगीत' (४० गीत) का 'दी साइड आफ़ दी सी' के नाम से सरस अनुवाद उल्लेखनीय है। तमिल-काव्य में से तिरुक्कुरल के श्री सुब्रह्मण्य भारती की सहायता से) १० छंदों, नम्मलवार के भजन के १० छन्दों तथा नम्मलवार कृत कविता के १० छन्दों का उन्होंने काव्यानुवाद किया। तथा राजासंत कुलशेखर की एक रचना तथा आण्डाल कृत तीन कविताओं का उन्होंने सरस गद्यानुवाद किया। ग्रीक लैटिन साहित्य में से 'ओडिसी' के प्रथम पर्व का कुछ अंश, प्लेटो का कुछ अंश मैलियगर का एक अंश तथा कैटलस का भी एक अंश अनूदित हैं।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 'वन्देमातरम्' का उन्होंने काव्यानुवाद तो किया ही था, गद्यानुवाद भी किया। गद्यानुवाद करने पर उनकी निम्नलिखित टिप्पणी द्रष्टव्य है—

'बंगाल के राष्ट्रीय गान को दूसरी भाषा में पद्यबद्ध अनुवाद करना कठिन है। बंगला भाषा में इसकी मधुरता, सरल प्रत्यक्षता और उच्च काव्य-शक्ति का अनुपम सम्मिलन है। इस दृष्टि से पद्यानुवाद के प्रयत्न विफल हुए हैं। अतः बंग काव्य से अपरिचित पाठक को मूल रचना की यथार्थ शक्ति के अधिक समीप लाने के लिए, मैं यहां पंक्तिशः अनुवाद प्रस्तुत कर रहा हूं।"

अनुवाद की असमर्थता पर कुछ ऐसी ही बात श्री अरविन्द ने कालिदास का अनुवाद करने पर कही थी—"भारतीय कविता का अंग्रेजी कविता में अनुवाद हो ही नहीं सकता क्योंकि जहां न केसर होता है, न मल्लिकापुष्प, न चक्रवाक और न बिम्बफल, वहां संस्कृत काव्य में उनके प्रयोगों को अंग्रेज़ी में यथावत लिखने या भारी-भरकम अनुवादों को रख देने से भी कार्य पूर्ण कैसे होगा!"

इन अनुवादों में अनेक तो विद्यार्थी-जीवन के हैं, कुछ बड़ौदा-काल के हैं तथा कुछ बाद के हैं। यहां तक कि पांडीचेरी-जीवन में भी श्री अरविन्द का अनुवादक व्यक्तित्व अत्यन्त प्रवीण कलाकार का है। उनकी क्षमता के अनेक रोचक उदाहरण उनकी कृतियों में मिलते हैं यथा कुमारसंभव के प्रथम सर्ग का तीन प्रकार से काव्यानुवाद। ऐसी प्रतिभा विश्व में और कहां मिलेगी?

११. वेद-रहस्य

श्री अरविन्द का 'वेद-रहस्य' (सीक्रेट आफ़ दी वेद) ग्रंथ वस्तुत: उनके द्वारा 'दी सीक्रेट आफ़ दी वेद' तथा 'सेलेक्टिड हिम्स' शीर्षकों से 'आर्य' में प्रकाशित लेख-मालाओं का संशोधित और परिवर्धित रूप है।

इसमें चार भाग हैं-—क्रमश: 'वेद-रहस्य', 'चुने हुए सूक्त', 'अग्नियों के सूक्त', तथा 'अन्य सूक्त'।

१. वेद-रहस्य

इसमें तेईस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'समस्या और उसका समाधान' में श्री अरविन्द ने पाश्चात्य पद्धतियों से किए गए भाष्यों अथवा सायणाचार्य के भाष्य से भिन्न अपनी भावात्मक व रचनात्मक पद्धति के द्वारा वेद-रहस्य का उद्घाटन करने की भूमिका बांधी है। इन पद्धतियों में यह दोष अत्यन्त स्पष्ट है कि उनसे वेदों के मंत्रों में असाधारण असम्बद्धता और घटिया अर्थ-गौरवहीनता दिखाई देती है। सहस्रों वर्षों की हिन्दू-परम्परा में वेद के सुविख्यात ज्ञान-स्रोत रूप से यह बात मेल नहीं खाती। "उन्हें कहा जाता रहा वेद अर्थात ज्ञान—जो मानव-मन को प्राप्त हो सकने योग्य सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य का नाम है। किन्तु यदि हम प्रचलित व्याख्याओं को देखें, चाहे सायण की या आधुनिक मत की, तो वेद की यह उदात्त और पवित्र प्रतिष्ठा अत्यधिक मिथ्यासिद्ध हो जाती है।" यही नहीं, इन व्याख्याओं से हमारे मन पर यह छाप पड़ती है कि आगे के धर्मों व दार्शनिक विचारों का स्रोत उपनिषद हैं न कि वेद और यह भी कि उपनिषद अवश्य ही वेदों के कर्म-काण्डी भौतिकवाद के विरुद्ध दार्शनिकों और विचारशीलों का विद्रोह थे। किन्तु उपनिषदों की आध्यात्मिकता क्या शून्य में से आ गई थी? इन व्याख्याओं से इस प्रश्न का कहीं कोई समाधान नहीं मिलता। "और इस रिक्त स्थान को भरने के लिए, जो यह कल्पना गढ़ी गयी है कि ये विचार जंगली आर्य आक्रामकों ने सभ्य द्रविड़ों से लिये थे, एक ऐसी अटकल है जिसका आधार केवल अन्य अटकलें हैं। वास्तव में ही अब यह शंका होने लगी है कि पंजाब होकर आर्यों के आक्रमण की सारी कहानी भाषा-वैज्ञानिकों की मनगढ़न्त है।"

श्री अरविन्द ने इन व्याख्याओं का यह दोष भी दरशाया है कि इनके द्वारा यह भी स्पष्ट नहीं होता कि यदि वेद का 'सूर्य' आकाश में चमकने वाला सूर्य ही है तो वह गायत्री व ईशोपनिषद में 'दिव्य ज्ञान का देवता' कैसे वन गया ? वेदों और पुराणों के मध्य एक रिक्त स्थान की कल्पना के द्वारा ऐसे शब्दार्थ-विकास की कल्पना नितान्त थोथी है। श्री अरविन्द के अनुसार—"···यह रिक्त स्थान हमारी निर्मिति है और वस्तुतः उस पवित्र साहित्य में यह है ही नहीं। जो मत मैं प्रस्तावित करता हूं, वह यह है कि स्वयं ऋग्वेद मानव-विचार के उस प्रारम्भ काल से आया हुआ एक बड़ा भारी प्रलेख है···जब जाति का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान···स्थूल और भौतिक अलंकारों व प्रतीकों के आवरण से आवृत्त था जो तत्त्व की अनधिकारी व्यक्तियों से सुरक्षा करते थे तथा दीक्षित व्यक्तियों के लिए तत्त्व प्रकट कर देते थे।" श्री अरविन्द अपने मत को आगे बताते हुए कहते हैं कि रहस्यवादी लोग आत्मज्ञान तथा देवों के विषय के ज्ञान को अनधिकारियों से गुप्त रखने योग्य और पवित्र मानते थे। और "इसीलिए उन्होंने एक बाह्य पूजाविधि को रखना पसन्द किया था जो प्राकृत जनों के लिए उपयोगी परन्तु अपूर्ण थी और दीक्षितों के लिए एक आन्तरिक अनुशासन का काम देती थी और इसकी भाषा को ऐसे शब्दों व बिम्बों से ढंक दिया था जो विशिष्ट लोगों के लिए आध्यात्मिक अर्थ तथा साधारण पूजकों के समुदाय के लिए स्थूल अर्थ, समान रूप से प्रकट करते थे। वैदिक सूक्त इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर रचे गए थे।" अतः श्री अरविन्द के अनुसार वेद में प्राकृत जनों के लिए जो सर्वेश्वरवाद के अनुरूप विधि-विधान व कर्मकाण्डी आयोजन मात्र थे, वे ही रहस्य ज्ञात हो जाने पर आध्यात्मिक अनुभूतियों व ज्ञान के महाकोष भी थे।

श्री अरविन्द ने यह भी बताया है कि उनका यह मत प्रामाणिक सिद्ध हो जाने पर तीन लाभ होंगे। प्रथम यह कि इससे उपनिषदों के अनेक अज्ञात अंशों को ठीक से समझा जा सकेगा तथा पुराणों के मूल स्रोतों का भी बहुत कुछ उद्घाटन हो जाएगा। द्वितीय यह कि इससे सम्पूर्ण प्राचीन परम्परा का स्वरूप स्पष्ट तथा तर्कपूर्वक सुबोध हो जाएगा जिससे अन्य जातियों की भी बहुत-सी गाथाओं, देवता-कथाओं आदि का भी रहस्य खुलेगा तथा भारतीय तुलनात्मक धर्म के अध्ययन का ठीक प्रारम्भ बिन्दु भी मिल जाएगा। तृतीय यह कि इसी से वैदिक सूक्त सुसम्बद्ध, तर्कपूर्ण तथा गम्भीर अर्थ से युक्त दिखाई पड़ने लगेंगे न कि बर्बर अवस्था के एक मनोरंजक अवशेष मात्र।

द्वितीय अध्याय में श्री अरविन्द ने वैदिक मत के सिंहावलोकन के अन्तर्गत वैदिक साहित्य पर विचार किया है। वेद उस युग की रचना है जो हमारे बौद्धिक दर्शनों से प्राचीन था। तब आधुनिक प्रणाली से भिन्न पद्धति से विचार की प्रगति होती थी। सर्वोच्च विद्वान लोग अपने सामान्य व्यावहारिक बोधों और दैनिक

कार्यों से परे के सब ज्ञान के लिए आन्तरिक अनुभूति पर तथा अपने अन्तर्दृष्टि-पूर्ण मन पर निर्भर रहते थे। "उनका लक्ष्य था प्रकाश न कि तर्कसम्मत विश्वास।" और "भारतीय परम्परा ने वेदों के उद्‌भव के इस तत्त्व को निष्ठापूर्वक संजोकर रख है।" इसी कारण वैदिक ऋषि वेद के मंत्रों या सूक्त का रचयिता नहीं, दृष्टा है। "वेद की भाषा 'श्रुति' है, एक लय जिसका बुद्धि द्वारा निर्माण नहीं हुआ अपितु जो सुनी गई, एक दिव्य वाणी जो असीम से निकल कर उस मनुष्य के अन्तः श्रवण तक पहुंची जिसने पहले से ही स्वयं को अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था।" और यह स्वतः प्रकाशज्ञान 'इलहाम'—जैसी कोई चमत्कार की बात नहीं कही गई है। "जिस ऋषि ने इन शक्तियों (दृष्टि और श्रुति) का उपयोग किया था, उसने एक प्रगतिशील आत्म-विकास के द्वारा उन्हें प्राप्त किया था।" वेद में यात्रा का रूपक सत्य के पथ पर आत्मा के प्रयाण के रूप में स्वीकृत है। "ज्ञान स्वयं एक यात्रा और लक्ष्यप्राप्ति थी अथवा एक अन्वेषण और विजय। स्वतः प्रकाशज्ञान की अवस्था केवल अन्त में आई, यह प्रकाश एक अन्तिम विजय का पुरस्कार था।"

ऋग्वेद किसी बौद्धिक या कल्पनात्मक चिन्तन के परिणामों का लेखा-जोखा नहीं है, यह "तो उस महान उत्कर्ष का एक अभिलेख है जिसे मानव जाति ने अपनी सामूहिक प्रगति के किसी एक काल में विशेष उपायों के द्वारा प्राप्त किया था। और साधारण व रहस्यमय दोनों ही अर्थों में यह कर्मों की पुस्तक है, आन्तरिक और बाह्य यज्ञ की।"

वैदिक मन्त्र जो "परमकला और सचेतन कला के सजीव निःश्वास हैं" अपने ऋषि की दृष्टि में "अपने तथा अन्यों के लिए आध्यात्मिक प्रगति का एक साधन था" और "अभिव्यक्ति की कला ऋषियों के लिए साधन मात्र थी, साध्य नहीं।" वैदिक मंत्र ऋषि की आत्मा में से उद्‌भूत था। यह उसके मन की शक्ति थी।

कालान्तर में वेदानुयायी समाज, बाह्य याज्ञिक क्रियाओं में उलझे रहने के कारण, अनुभूतियों से कट गया और तब वेद उत्तरोत्तर लुप्त होता गया। "इस-लिए जब भारतीय मन फिर से वेद के आशय के अनुसन्धान की ओर मुड़ा तो यह कार्य कठिन था और इसमें जो कुछ सफलता मिली, वह आंशिक थी।" ब्राह्मण-ग्रन्थों व उपनिषदों का यही सच्चा स्वरूप है—"ब्राह्मण-ग्रन्थ और उपनिषदें लेख-चिह्न हैं उस एक प्रबल पुनरुज्जीवन के जो, पवित्र संहिता तथा कर्मकाण्ड को प्रारम्भ-बिन्दु बनाकर, आध्यात्मिक विचार व अनुभव की नवीन अभिव्यक्ति में प्रवृत्त हुआ। इस आन्दोलन के दो परस्पर पूरक रूप थे, एक था रूपों की रक्षा, दूसरा था वेद की आत्मा का पुनः प्रकाश—पहले के द्योतक हैं ब्राह्मण-ग्रन्थ, दूसरे के द्योतक हैं उपनिषद ग्रन्थ।" इस आन्दोलन के फलस्वरूप वेद की स्थापना करते-करते वेदांत की स्थापना हो गई और "वेद पुरोहितों के लिए, वेदांत सन्तों के

लिए" कहा जाने लगा। अन्ततः बौद्ध धर्म ने कर्मकाण्ड और दुर्बोध वाङ्मय के विरुद्ध जो स्वर उठाया उसी के परिणामस्वरूप "देश के सर्वसाधारण लोगों के लिए पुराणों ने वेदों को एक ओर हटा दिया और नवीन धार्मिक पूजा-पाठ की विधियों ने पुरातन विधियों का स्थान ले लिया।"

इसी अध्याय के दूसरे अंश में श्री अरविन्द ने वैदिक मत के सिंहावलोकन के अन्तर्गत वैदिक विद्वानों पर विचार किया है। यास्क के निरुक्त और सायण के भाष्य का उन्होंने मूल्यांकन किया है। उनके अनुसार "सायण का ग्रन्थ एक ऐसी चाबी है जिसने वेद के आन्तरिक आशय पर दोहरा ताला लगा दिया है, तो भी वह वैदिक शिक्षा की प्रारम्भिक कोठरियों को खोलने के लिए अत्यन्त अनिवार्य है।···प्रत्येक पग पर हम इसके साथ मतभेद रखने को बाध्य हैं, परन्तु प्रत्येक पग पर हम इसका प्रयोग करने के लिए भी बाध्य हैं।"

चतुर्थ अध्याय में श्री अरविन्द ने वेद-सम्बन्धी पाश्चात्य मत का विवेचन किया है। सायण के कर्मकाण्डपरक वेदभाष्य के उपरान्त स्वतन्त्र चिन्तन का पहला प्रयास विदेशी संस्कृति की वेदों के प्रति जिज्ञासा द्वारा प्रारम्भ हुआ। "प्राचीन धर्म-ग्रन्थ वेद उस पाण्डित्य के हाथ में आया जो परिश्रमी, विचार में साहसी, कल्पना की उड़ान में विचक्षण, अपने प्रकाशों के अनुसार ईमानदार, परंतु फिर भी प्राचीन रहस्यवादी कवियों की प्रणाली को समझने के अयोग्य था। कारण यह कि यह उस पुरातन स्वभाव के प्रति सहानुभूति-शून्य था, और वैदिक अलंकारों व दृष्टान्तों में छिपे विचारों को समझने के लिए अपने बौद्धिक या आध्यात्मिक वातावरण में उसके पास कोई संकेत न था।"

श्री अरविन्द ने बताया है कि पाश्चात्य विद्वानों ने सायण-भाष्य और ब्राह्मण-ग्रन्थों से बहुत कुछ लेकर, आधुनिक सिद्धान्तों व विज्ञानों के प्रकाश में उनकी मन-मानी व्याख्या करके, वैदिक गाथाशास्त्र, इतिहास व सभ्यता को मिलाकर एक वैदिकवाद खड़ा कर दिया है। इसके अनुसार वेद-मंत्र हैं मात्र "आधा अंधविश्वास-युक्त तथा आधा कवितायुक्त प्रकृति का एक रूपक, महत्त्वपूर्ण ज्योतिकीय तत्त्व के साथ।"

श्री अरविन्द ने कुछ विस्तार से भाषाविज्ञान के आधार पर वेदार्थ करने की पद्धति के दोष बताएं हैं। तत्पश्चात् वे तीन भारतीय प्रयासों का उल्लेख करते हैं जिनमें से दो यूरोपीय पद्धति के हैं और एक भारतीय पद्धति का। प्रथम दो हैं लोकमान्य तिलक की कृति 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' तथा श्री टी० परमशिव अय्यर की कृति। तीसरा प्रयास है स्वामी दयानन्द का। "दयानन्द ने ऋषियों के भाषा-सम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है और वैदिक धर्म के केन्द्रीय विचार पर फिर से बल दिया है—इस विचार पर कि जगत में एक ही देव की सत्ता है और भिन्न-भिन्न देवता नाना नामरूपों में उसी एक की बहुरूपता को प्रकट

करते हैं।"

श्री अरविन्द के अनुसार वैदिक ऋषियों ने जिस द्वि-अर्थक प्रणाली से मंत्रों की रचना की थी, उसको समझने के लिए प्राचीन तथा आधुनिक सभी व्याख्याएं कुछ सहयोगी हैं, परन्तु यह सदैव स्मरणीय है कि "वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और आत्मसाधना के लिए अभिप्रेत हैं" अतः उनके भौतिक अर्थ की अपेक्षा प्रधान तथा अधिक सुसंगत आध्यात्मिक अर्थ को ही पुनरुज्जीवित किया जाना चाहिए।

पांचवें अध्याय में श्री अरविन्द ने मनोवैज्ञानिक मत के आधारों पर विचार किया है। वे वेद के आशय को समझने के लिए वेद-मंथन को ही उपयुक्त मार्ग मानते हैं। वेद की भाषा में प्रत्येक पारिभाषिक शब्द का एक सुनिश्चित अर्थ पता लगाना होगा जो सर्वत्र सुसंगत लगता हो क्योंकि वैदिक ऋषियों की भाषा में न स्वच्छन्दता है, न परिवर्तनशीलता। व्याख्याकारों ने यदि एक ही पारिभाषिक शब्द के स्थान-स्थान पर मनमाने अर्थ कर लिये हों, तो दोष वेद का नहीं, व्याख्याकार का ही है।

श्री अरविन्द ने इस अध्याय में बताया है कि वैदिक विचार से उनका प्रथम परोक्ष परिचय तब हुआ, जब योग-साधना के मध्य उनके मन में आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्बद्ध तीन प्रतीक-रूप नाम—इला, सरस्वती, सरमा—जागे जो स्वतः प्रकाश, अन्तःप्रेरणा तथा अन्तर्ज्ञान के द्योतक हैं। बाद में श्री अरविन्द ने आर्य व द्रविड़ के भेद और वेद में उन्हीं को आर्य व दस्यु कहने की कल्पना की परीक्षा के लिए वेद का स्वतन्त्र अध्ययन प्रारम्भ किया और ऐसी कल्पनाओं को सारहीन पाया। अधिक लाभ यह हुआ कि वैदिक सूक्तों के गम्भीर आध्यात्मिक विचारों व अनुभूतियों को उन्होंने अपनी अनुभूतियों को प्रकाशित करने वाला पाया। यही नहीं, उपनिषदों व पुराणों के भी अनेक रहस्य वेद-मन्त्रों से खुल गए।

श्री अरविन्द ने सायण का भाष्य पहले नहीं पढ़ा था, अतः वेद में बार-बार आने वाले 'धी', 'मनस्', 'मति', 'मनीषा', ऋतम्', 'कवि' इत्यादि पदों के सही अर्थ तक पहुंच सके जबकि सायण ने उनके बदल-बदलकर अर्थ कर दिए हैं। "सायण ने 'धी' के 'विचार', 'स्तुति', 'कर्म', 'भोजन' आदि अनेक अर्थ किए हैं। मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार निश्चित रूप से इसका अर्थ विचार या समझ है। और यही बात वेद के अन्य नियत पारिभाषिक शब्दों के विषय में है।" इस अध्ययन से "यह स्पष्ट हो गया कि वैदिक यज्ञ में यज्ञ है आन्तरिक या बाह्य कर्म, यजमान है कर्ता अथवा आत्मा तथा पुरोहित अग्नि है दिव्य संकल्प या दिव्य शक्ति। यह भी स्पष्ट हो गया कि हवि के फल—गो, अश्व आदि में से "गो-सम्पत्ति तथा अश्व-सम्पत्ति क्रमशः मानसिक प्रकाश की समृद्धि और जीवन-शक्ति की बहुलता के प्रतीक हैं। इससे परिणाम निकला कि वैदिक कर्म (यज्ञ) के इन दो मुख्य फलों के साथ निरन्तर सम्बद्ध जो

दूसरे फल हैं, उनकी भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या हो सकनी चाहिए। शेष केवल यह रह गया कि उन सबका ठीक-ठीक अभिप्राय नियत किया जाए।" वैदिक प्रतीकवाद के अन्तर्गत लोकों की पद्धति तथा देवों के कार्यों का भी श्री अरविन्द को रहस्यमय अर्थ समझ में आ गया। लोक हैं चेतना के विभिन्न स्तर और देव हैं जीवन की स्वतन्त्र तथा एकीभूत सम्पूर्णता की पोषक शक्तियां, ठीक वैसे ही जैसे दैत्य हैं उसकी विरोधी शक्तियां। श्री अरविन्द के अनुसार—"यदि वैदिक प्रतीकों का अभिप्राय एक बार ज्ञात हो जाए तो वैदिक कथानकों का मनोवैज्ञानिक अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है।"

पंचम अध्याय में श्री अरविन्द ने वेद की भाषा-वैज्ञानिक पद्धति का विवेचन किया है। वेद अत्यन्त प्राचीन काल की रचना है। "वैदिक ऋषियों के लिए शब्द एक सजीव वस्तु है, उत्पादक व निर्माणात्मक शक्ति की एक वस्तु है। अभी तक यह विचार के लिए रूढ़ प्रतीक नहीं अपितु स्वयं विचारों का जनक और निर्माता है। उसके अन्दर अपने मूल धातुओं की स्मृति है तथा वह अपने इतिहास से अभिज्ञ है। ऋषियों का भाषा-प्रयोग शब्द के इसी प्राचीन मनोविज्ञान से शासित था। इसके लिए (शब्द का) मौलिक और सामान्य अर्थ मुख्य है, निष्पन्न और विशेष अर्थ गौण है।" किन्तु कालान्तर में "वैदिकवाद का शरीर प्रतीक तो बचा रहा किन्तु उसमें से ज्ञान की आत्मा निकल गई।"

षष्ठ अध्याय में श्री अरविन्द ने वेद में अग्नि के, सप्तम अध्याय में वरुण व मित्र के, अष्टम अध्याय में अश्विन, इन्द्र व विश्वेदेवाः के, नवम अध्याय में सरस्वती व उसकी सहचारिणी भारती, इला आदि के स्वरूप व अर्थ पर गंभीर विचार प्रकट किए हैं। दशम अध्याय में समुद्रों और नदियों के रूपक, एकादश अध्याय में सात नदियों के, द्वादश अध्याय में उषा की गौओं के, तथा त्रयोदश अध्याय में उषा के स्वरूप व अर्थ पर विद्वत्तापूर्ण विचार व्यक्त किए गए हैं। चतुर्दश अध्याय में गौ और अंगिरस उपाख्यान का रहस्य उद्घाटन किया गया है तथा पंचदश अध्याय में खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौओं का रहस्य प्रकट किया गया है। तदनन्तर आठ अध्यायों में क्रमशः अंगिरस ऋषि, सप्तशीर्षवाली धी इत्यादि, मानवपितर, पितरों की विजय, देवशुनी सरमा, अंधकार के पुत्र तथा दस्युओं पर विजय शीर्षकों से रोचक एवं अमूल्य चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। और अंतिम तेईसवें अध्याय में इस अध्ययन का सारांश प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय भाग

द्वितीय भाग में ऋग्वेद के तेरह सूक्तों (१।१७०, १।४, १।१७१, १।७७, ५।८१, ३।६१, ५।८२, ४।४८ ४।५०, ४।४५, १।२०, १।१५४ तथा ६।८३)

का मूल-सहित अंग्रेजी अनुवाद दिया गया है तथा प्रत्येक सूक्त के उपरान्त संक्षिप्त व्याख्या भी दी गई है।

तृतीय भाग

तृतीय भाग में प्रारम्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्राक्कथन, अग्निपरक २८ सूक्तों का मात्र अंग्रेज़ी अनुवाद, प्रकाश के संरक्षक शीर्षक एक लम्बा निवन्ध तथा मित्रा-वरुण के प्रति ११ सूक्तों का मूल सहित अंग्रेज़ी अनुवाद हैं।

प्राक्कथन में श्री अरविन्द ने अनेक महत्त्वपूर्ण वातें कही हैं। प्रारम्भ में ही वे कहते हैं—"वेद का अनुवाद करना एक असंभव कार्य को करने का प्रयास है। क्योंकि प्राचीन द्रष्टाओं के मंत्रों का शाब्दिक अंग्रेजी अनुवाद उनके अर्थ व भावना को झूठा करना होगा और यथार्थ विचार को ऊपरी तल पर लाने के लिए किया गया अनुवाद वस्तुतः अनुवाद तो क्या, व्याख्या ही होगा। अतः मैंने एक प्रकार के मध्यम मार्ग का प्रयास किया है···।"

वेद-मंत्रों का मूल अर्थ मनोवैज्ञानिक, वैश्विक तथा अपौरुषेय होने पर भी उनका ऊपरी अर्थ भिन्न प्रकार का देश-काल आदि की सीमाओं में वद्ध प्रतीत होता है क्योंकि उसमें रहस्यमय प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। ये प्रतीक समझ पाना यूरोपीय पाठक के लिए तो कठिन है ही, क्योंकि न वह यज्ञ जानता है, न लक्ष्मी और सरस्वती को, भारतीय पाठक को भी आज कठिन है क्योंकि वैदिक यज्ञपद्धति से वह भी अपरिचित हो गया है और देवों के पुराने नामों का या तो अपना अर्थ धुंधला हो गया है, या नये नाम ही प्रचलित हो गए हैं। श्री अरविन्द इस कठि-नाई को जो लम्बे काल-खण्ड की देन है वड़ी सरलता से उदाहरण देकर समझाते हैं। आज यदि यह कहा जाए कि लक्ष्मी व सरस्वती एक स्थान पर नहीं रह सकतीं, तो यूरोपीय पाठक कुछ नहीं समझेगा जब तक आलंकारिक भाषा हटाकर सरलता के यह भी न समझा दिया जाए कि सम्पत्ति और विद्या साथ-साथ नहीं रह सकते।" किन्तु प्रत्येक भारतीय सरलता से विना अनुवाद या व्याख्या के भी समझ लेगा क्योंकि वह 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' से आज परिचित है। किन्तु यदि सारे भारत में धर्म वदल चुका होता और दूसरी संस्कृति पूर्णतया छा चुकी होती तो भारतीय भी नहीं समझ पाता। उस समय कोई वड़ा विद्वान यह तर्कसम्मत व्याख्या करने का प्रयत्न करता कि लक्ष्मी का अर्थ है प्रभात और सरस्वती का अर्थ है रात्रि या ऐसा ही कोई और अर्थ। "वस ऐसी ही वात वेद की प्राचीन स्पष्टताओं के विषय में घटित हुई है। अर्थ मर चुका है और एक विस्तृत काव्य-रूप की अस्पष्टता शेष रह गई है।" तभी तो जव कहा जाता है कि देवशुनी सरमा ने सत्य-पथ से गौओं को खोजा तो उसके वास्तविक अर्थ—"अन्तर्दृष्टि ने सत्य के मार्ग से छिपे प्रकाशों को पाया"—का तो पता चलता ही नहीं, द्रविड़ देवों द्वारा

चुराई गई गौओं की वापसी के लिए कोई व्यक्ति भेजा गया हो, उसी का यह मानवीकृत वर्णन है, ऐसी-ऐसी कल्पनाएं की जाती हैं। प्राक्कथन की अंतिम पंक्ति अत्यन्त रोचक है—"वेद का रहस्य, अनावृत्त हो जाने पर भी, रहस्य ही बना हुआ है।"

चतुर्थ भाग

चतुर्थ भाग में इन्द्र इत्यादि के प्रति १३ सूक्तों का मूल सहित अंग्रेज़ी अनुवाद है। और अन्त में 'दी हिन्दू' (मद्रास) के २७ अगस्त १९१४ में प्रकाशित श्री अरविन्द का एक पत्र समाविष्ट है जिसका शीर्षक है 'वेद की व्याख्या'। इस पत्र का उद्देश्य उस पत्र में हुई 'वेद-रहस्य' की समीक्षा का संशोधनात्मक उत्तर देना था। इस लेख में श्री अरविन्द ने 'आर्य भाषा के उद्गम' शीर्षक से एक पुस्तक लिखने की योजना है, ऐसा विचार व्यक्त किया था। यह पुस्तक उन्होंने लिखना प्रारम्भ की थी, किन्तु उसका एक अध्याय ही लिखा जा सका जो प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट-रूप में संलग्न कर दिया गया है। ग्रन्थ की भव्य भूमिका-रूप में लिखित यह निबन्ध अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है। संस्कृत तथा अन्य आर्य-भाषाओं के साथ तमिल भाषा की शब्द-सम्पत्ति का दूर का नाता भी न मानने वाले भाषा-वैज्ञानिकों के लिए यहां अद्भुत विचार-सामग्री संकलित है।

१२. रहस्यमय अग्नि के सूक्त

श्री अरविन्द ने 'रहस्यमय अग्नि के सूक्त' (हिम्न्स टू दि मिस्टिक फ़ायर) नामक कृति में भूमिका के अतिरिक्त 'रहस्यवादियों का सिद्धान्त' निवन्ध लिखकर फिर वैदिक अग्नि सूक्तों (मंडल १-८ तथा १०) का अनुवाद किया है। अपने उपर्युक्त निवन्ध में उन्होंने पुराणों के सप्त लोकों की संगति वैदिक चेतना के स्तरों से इस प्रकार वताई है—

१.	सत्	सत्यलोक	
२.	चित्	तपलोक	दिव्य त्रिलोक
३.	आनन्द	जनलोक	
४.	विज्ञान	महःलोक	दिव्य त्रिस्वर्ग
५.	मन	स्वःलोक	
६.	प्राण	भुवःलोक	द्यौ, अन्तरिक्ष व पृथ्वी
७.	जड़तत्त्व	भूःलोक	तीन पार्थिव लोक

श्री अरविन्द कृत मंत्रानुवाद उन विद्वानों के लिए मार्गदर्शक हो सकता है जो विदेशी अनुवादों में मूल भाव को विरूपित पाते हैं तथा सही दिशा में अनुवाद की विधि खोजते हैं। वस्तुतः आवश्यकता है इसी आधार पर सम्पूर्ण वेद के अनुवाद की। आशा है श्री अरविन्द के विद्वान भक्तों में से कोई इस कार्य को आगे वढ़ाएगा।

१३. उपनिषद-दर्शन

श्री अरविन्द कृत 'उपनिपद-दर्शन' (फ़िलासफ़ी आफ़ दि उपनिपद्स) छह अध्यायों का एक सुन्दर प्रवन्ध है। इसमें परब्रह्म, माया इत्यादि गंभीर विपयों का अत्यंत आकर्पक विवेचन किया गया है।

१. पूर्ण ब्रह्म की खोज

श्री अरविन्द ने इस निवन्ध का प्रारम्भ ही अत्यन्त सरल व स्पष्ट रीति से किया है—"दृश्य जीवन के परिवर्तन तथा विविधता के पीछे इन्द्रियातीत एकता अर्थात अद्वैत और स्थिरता ही उपनिपदों के विचार का आधार है। यह सम्पूर्ण भारतीय तत्त्वदर्शन में शुद्धतम तत्त्वदर्शन है तथा हमारे आध्यात्मिक अनुभव का सार व लक्ष्य है।" विश्व के मूल में जिस अद्वैत तत्त्व को विज्ञान आज अपने धरातल पर मानने को वाध्य हो रहा है, उसी को वेदान्त अर्थात उपनिपद-दर्शन ने अपने धरातल पर वहुत पहले प्राप्त किया था। विश्व में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली नानारूपता और तत्त्वतः मिलने वाली अद्वैतता के दोनों छोरों को मिलाने के लिए समीचीन व्याख्या प्रस्तुत करने का कार्य दर्शन का है। समय, गति, परिवर्तन आदि से अप्रभावित वह एक परमतत्त्व जिसमें सभी परिवर्तन समा जाते हैं, कैसा है? क्या है? इत्यादि जानने के लिए विविध प्रयास दर्शन के क्षेत्र में हुए। सांख्य ने सभी विविधताओं को कम करते-करते केवल दो तत्त्वों —'पुरुप' और 'प्रकृति'— तक विचार को पहुंचा दिया और अंततः वेदान्त ने एक 'पुरुप' में ही परमतत्त्व घोपित कर दिया। किन्तु इतना घोपित कर देने मात्र से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। समाधान तो तव होगा जव किसी प्रकार साक्षात्कार से इस तथ्य की पुष्टि की जा सके नहीं तो यह वात एक वौद्धिक उड़ान मात्र ही होकर रह जाती। आध्यात्मिक विकास करते-करते ऋपियों ने जिस योग-प्रणाली को खोज निकाला, उसके सामने न्यूटन आदि की खोजें वालक्रीड़ा मात्र हैं। "उन्होंने योग विधि की खोज चरम प्रक्रियाओं तक कर ली थी। योग के द्वारा उन्होंने तीन सर्वोच्च अनुभूतियां प्राप्त कीं।" इन्हीं को उपनिपदों में 'नित्यो नित्यानाम' तथा 'चेतनश्चेतनानाम्' और उनके आधार रूप में 'सोऽहम्' या 'अहं ब्रह्मास्मि' कहा गया। इन्हीं

स्तंभों पर उपनिषद-दर्शन आधारित है।

२. पूर्ण ब्रह्म का स्वभाव

श्री अरविन्द इस निवन्ध में वताते हैं कि मैक्समूलर सदृश पाश्चात्य विद्वानों ने उपनिषदों को 'विचारों की खिचड़ी' वताया है तथा ऋषियों को 'प्रतिभाशाली मूर्ख' इत्यादि कहा है। किन्तु सोचने की वात है कि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली तथा मूर्खों की भी समझ में आने वाली मोटी-मोटी वातें क्या ऋषियों ने नहीं देखी थीं। "वस्तुतः उपनिषद आदि से अन्त तक पूर्णतया तर्कसंगत, अन्तःसंगतियुक्त तथा एकरूप हैं—यदि उन्हें कल्पनात्मक भाषा तथा कहीं-कहीं पर प्रतीकतत्त्व की छूट दी जा सके।" उपनिषद किसी दर्शन को प्रस्तुत करने के लिए लिखे गए तार्किक की कृति नहीं है अपितु "उनमें तो पूरी ईमानदारी के साथ आध्यात्मिक प्रयोगों व अव-लोकनों तथा उनसे प्राप्त सामान्य सिद्धान्तों का महान भंडार है।" उनसे अत्यन्त स्वाभाविक रूप में ही एक सामान्य सत्य की सिद्धि होती है और वस्तुतः "उनमें तार्किक सुसंगतता के स्थान पर वैज्ञानिक सुसंगतता ही है।"

श्री अरविन्द इसे स्पष्ट करते हुए एक महत्त्वपूर्ण वात यह कहते हैं कि उप-निपदों में ब्रह्म को 'अज्ञेय' भी कहा गया है तथा 'एकमात्र ज्ञेय' भी कहा गया है और सारे उपनिषद ब्रह्म का ही निरूपण करते हैं तो क्या इन दोनों वातों में असं-गतता है? वस्तुतः उपनिषदों में ब्रह्म को "सीमित ज्ञान की शव्दावली में अनिर्वच-नीय तथापि अनुभूतियोग्य तथा प्राप्य" कहा गया है।

ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए प्रथम पग है—जगत में उसे देखना क्योंकि जव केवल ब्रह्म सत्य है, तो जगत भी ब्रह्म ही है और यदि हम जगत को जानते हैं तो ब्रह्म को भी कुछ तो जानते ही हैं। योगी स्थूल, सूक्ष्म व कारण जगत में उसी ब्रह्म का विराट, हिरण्यगर्भ और प्राज्ञ रूप में साक्षात्कार करता है। "उपनिषदों ने स्पष्ट कहा है कि मानव में इन्द्रियातीत आत्मा वही है जो जगत में इन्द्रियातीत आत्मा है। और यही तादात्म्यपूर्ण ब्रह्म के ज्ञान की कुंजी है। दोनों में ऊपरी विषमता और मूलतः तादात्म्य को वेदान्त स्पष्ट करता है। अन्तर है ब्रह्मदर्शन में, तादात्म्य है उनके मूल रूप में।" अतः स्वाभाविक रूप से सही लगने वाला द्वैत भी कोई भ्रम नहीं है, सत्य है परन्तु वह परम सत्य नहीं है। विकास करते हुए सूक्ष्म जगत में पहुं-चने पर मन द्वैताद्वैती हो जाता है क्योंकि यहां जीव को ब्रह्म से कुछ एकता प्रतीत होती है पर तादात्म्य नहीं होता। और भी विकास करने पर कारण-जगत में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिटने पर जीवात्मा स्वयं को ब्रह्म भी अनुभव करता है और इस जगत में अद्वैत का दर्शन भी करता है। कारण-जगत से परे पहुंचने पर जीवात्मा का ब्रह्म में लय होकर निर्वाण हो जाता है। इस अवस्था का शब्द वर्णन नहीं कर सकते क्योंकि "शब्द जिनकी रचना सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने के लिए हुई है,

और सम्वन्धों को अभिव्यक्त न करें तो वे अर्थहीन हैं, उस अवस्था का सफलता-पूर्वक वर्णन नहीं कर सकते जो पूर्ण शुद्ध, परम और असम्वद्ध है। मानव की वद्ध व सान्त वुद्धि इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। किन्तु तव अद्वैत अवस्था की यथार्थता को योग भी कैसे सिद्ध करेगा?" इसका उत्तर देना कुछ कठिन है क्योंकि उत्तर देने में भापा इतनी अमूर्त हो जाएगी कि समझा ही न जा सके।" अद्वैतावस्था की तीन स्थितियां हैं—जीवन्मुक्त, अवतार तथा ब्रह्मरूपता। इनमें से पहली में ही परब्रह्म को जैसा देखा जा सकता है, आलंकारिक भापा के द्वारा निरूपित किया जाता है।

३. परब्रह्म

वेदान्त की भापा में परब्रह्म है सच्चिदानन्द अर्थात सत्, चित् और आनन्द। वह सत्य, ज्ञान और अनन्त है। श्री अरविन्द ने इन पदों की व्याख्या की है। पूर्ण ब्रह्म तो अव्यक्त, कल्पनातीत है किन्तु अभिव्यक्त होने की दिशा में उसका प्रथम पग ही है 'परब्रह्म' रूप जो पूर्ण ब्रह्म की ज्योतिर्मय काया-सा है। वेदांत उसी को सच्चिदानन्द 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्' कहता है।

४. माया : विश्व का आधार

श्री अरविन्द ने इस निवन्ध में अत्यन्त रोचक वातें कही हैं। जो ब्रह्म स्वयं सत्ता, चेतना व आनन्द है वही स्वयं को सत्य, चितिमय तथा आनन्दमय के रूप में प्रस्तुत करता है। जो निर्विशेप है वही सविशेष वन जाता है। एक वार पूर्ण ब्रह्म के परब्रह्म वनते ही विकास-नियम से शेष सृष्टि विकसित हो जाती है। तव पूछा जा सकता है कि 'ऐसा क्यों होता है?' जिस पर वेदान्ती का उत्तर है कि कारण से परे ब्रह्म पर 'क्यों' का प्रश्न सम्भव ही नहीं है। और 'माया कैसे उत्पन्न हुई?' के प्रश्न के उत्तर में वेदान्त कहता है—"हम नहीं वता सकते क्योंकि न हम जानते हैं, और न जान सकते हैं, कम से कम उसे समझ में आने योग्य विधि से नहीं कहा जा सकता।" और इसका कारण यह है कि "माया का उद्भव यदि हुआ हो तो देश, काल व कारण के जन्म से पहले हुआ।" वस्तुत: माया अनिर्देश्य है। वेदान्त 'माया' के अस्तित्व की सिद्धि स्वरूप-वर्णन और विकास-कार्य के विषय में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है। विज्ञान भी अपनी प्रगति में पूर्णत्व को प्राप्त करके माया को अनावृत्त करने की स्थिति में आ सकेगा।

५. माया : पूर्ण ब्रह्म की शक्ति

श्री अरविन्द के अनुसार विज्ञान जव तक पूर्ण नहीं हो जाता और योग जव तक सर्वसामान्य के लिए सुलभ नहीं हो जाता, तव तक तत्त्वदर्शन का महत्त्व वना

रहेगा। दर्शन की एक बड़ी समस्या यह है कि पूर्ण चेतना तथा पूर्ण ज्ञान वाले ब्रह्म में अविद्या कैसे आ सकती है ? वेदान्त ने इसके लिए 'माया' को उत्तरदायी कहा है और 'माया' कोई 'वाद' नहीं है, तथ्य है। श्री अरविन्द ने मानव-चेतना में अविद्या की अभिव्यक्तियों का एक रोचक उदाहरण मानव की कल्पना की शक्ति से दिया है तथा तदर्थ शेक्सपियर का उदाहरण देकर सादृश्य से वेदान्त के माया-तत्त्व को समझाया है।

६. त्रिविध ब्रह्म

श्री अरविन्द ने इस निबन्ध में विकास-क्रम से ब्रह्म की तीन अवस्थाओं—अव्यक्त, पुरुष और प्रकृति—का महत्त्वपूर्ण वर्णन किया है।

१४. उपनिषदों के अंग्रेजी अनुवाद तथा उपनिषद-सम्बन्धी कुछ निबन्ध

श्री अरविन्द ने ईश, केन, कठ, मुंडक, मांडूक्य, प्रश्न, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वताश्वतर, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कैवल्य तथा नीलरुद्र नामक उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद किया था। उन्होंने ईशोपनिषद तथा केनोपनिषद के अनुवादों के साथ विश्लेषण व विवेचन भी किए थे।

इन अनुवादों में श्री अरविन्द ने उपनिषदों के अनुवाद से सम्बन्धित जो लेख लिखा था उसमें इन अनुवादों का उद्देश्य बताते हुए कहा गया था कि "यह अनुवाद एक निश्चित और स्थिर नियम के आधार पर किया गया है कि इंगलैण्ड को तथा उसके माध्यम से यूरोप को भारत का धार्मिक सन्देश देना है और इसमें केवल उन्हीं अंशों का अनुवाद किया गया है जिन्हें सुनने की पात्रता पश्चिम में है और उन्हें इस रूप में प्रस्तुत किया गया है जो पाश्चात्य बुद्धि को आकर्षक तथा विचारोत्तेजक लगे।

मैक्समूलर कृत उपनिषदों के अनुवाद (जो 'सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' के एक खण्ड के रूप में हैं) के विषय में श्री अरविन्द की टिप्पणी है—"प्रोफेसर मैक्समूलर, ज्ञान की विविध शाखाओं के विद्वान्,…विचक्षण और उत्तरदायित्वहीन कल्पना वाले …किन्तु यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि वह परिपक्व संस्कृत विद्वान होने की अपेक्षा वैयाकरण और भाषा-वैज्ञानिक अधिक थे…उन्होंने यह कल्पना की थी कि आक्सफोर्ड में बैठकर और अपनी दीप्त कल्पना से नये अर्थ निकालकर वह शंकराचार्य या अन्य किसी भी हिन्दू विद्वान से अधिक अच्छी रीति से उपनिषदों को समझ सकते थे। और उन्होंने यह भी कल्पना की थी कि उपनिषदों के विषय में यूरोप को जो जानना महत्त्वपूर्ण है, वह वही है जो वह तथा अन्य यूरोपीय विद्वान उपनिषदों का अर्थ लगाएं। वस्तुतः यूरोप को यह जानना पहले आवश्यक है कि उपनिषदों की रहस्यमय शिक्षा का वास्तविक अर्थ क्या है और उससे कुछ कम मात्रा में यह जानना कि दार्शनिक हिन्दुत्व ने उनका क्या अर्थ लगाया…।" श्री अरविन्द ने मैक्समूलर के उन शब्दों पर आपत्ति की है जिनमें उप-

निषदों के बहुत बड़े अंशों को 'अर्थहीन, कृत्रिम तथा मूर्खतापूर्ण ही नहीं, बीभत्स और घृणित' कहा गया है। श्री अरविन्द ने अन्त में बहुत ही ठीक कहा है—"उपनिषदों में वह सब कुछ 'अर्थहीन' है जो यूरोपीयों की समझ में नहीं आता, वह प्रत्येक बात कृत्रिम है जो उनके मानसिक अनुभव के वृत्त से बाहर है, और वह प्रत्येक वस्तु मूर्खतापूर्ण है जो यूरोपीय विज्ञान और समझदारी से स्पष्ट नहीं हो पाती।" और यह दृष्टिकोण इस कारण है क्योंकि बहुत कम लोग अपना मस्तिष्क खुला रखकर विचार कर सकते हैं—"क्योंकि हम सभी अपने प्रकाशों से ही निर्णय करते हैं और ऐसे लोग प्रत्येक राष्ट्र में मुट्ठी-भर होते हैं जो अपने मन वास्तव में खुले रख पाते हैं, जो यह समझ सकते हैं कि ऐसे भी प्रकाश हो सकते हैं जो उनके तो नहीं हैं परन्तु उनके अपने प्रकाशों जैसे या उनसे बढ़कर अधिक प्रकाशमान हैं।" ईसाइयों ने ईसा के शब्दों को ही गलत समझने के कारण कुमारी मेरी आदि की ऐसी कल्पनाएं की हैं जिन्हें हिन्दू पण्डित मूर्खतापूर्ण तथा घृणित कह सकता है। उपनिषदों में भी ऐसा बहुत कुछ प्रतीक-शैली में वर्णित है जो यूरोपियों को समझ में न आने पर विकर्षक हो सकता है, अतः श्री अरविन्द ने अनुवाद के लिए "केवल वे उपनिषद ही चुने हैं जिनमें सारतत्त्व है और कम से कम काव्यात्मक तथा पारिभाषिक रूप है। छान्दोग्य, ऐतरेय का उन्हें क्या लाभ है?"

तदनंतर श्री अरविन्द ने अनुवाद-सम्बन्ध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। मैक्समूलर इत्यादि के अनुवाद में शब्द के प्रति पाण्डित्यपूर्ण निष्ठा होने से अर्थ के प्रति अवज्ञा हो गई है। 'एतद् वै तत्' का अनुवाद 'दिस वाडी इज़ दैट' व्यर्थ है, होना चाहिए 'दिस इज़ दी गाड आफ़ योर सीकिंग'। 'प्राण' को अनुवाद करते कहीं 'लाइफ', कहीं 'ब्रेथ', कहीं 'लाइफ ब्रेथ', कहीं 'ब्रेथ आफ लाइफ' कहा गया है जो गलत है क्योंकि 'लाइफ' व 'ब्रेथ' उसके अधीन वस्तुएं हैं। इसी प्रकार आत्मा को 'सोल', 'स्प्रिट' और 'सेल्फ' कहना भी भ्रामक है। 'इम्मार्टेलिटी' का अर्थ हिन्दुओं की 'अमरता' नहीं है क्योंकि 'अमरता' का तात्पर्य हिन्दू दृष्टि में 'जीवन व मृत्यु के परे जाना' है। इसी प्रकार पुरुष 'कीइंग' नहीं है और रयि 'मैटर' नहीं है। इसी प्रकार श्रुति, गुरु, योगाभ्यास, भगवत्कृपा आदि शब्दों का भी अंग्रेजी-अनुवाद भ्रामक होगा।

अन्त में श्री अरविन्द ने अत्यन्त स्पष्ट कह दिया है—"उपनिषदों का अभिप्राय अनुवाद से पूर्ण नहीं हो सकता।" अनुवाद तो केवल मूल ग्रन्थ की ओर आकृष्ट करने के लिए हैं। और एक ही जीवन में निर्वाण-प्राप्ति के लिए भगवान बुद्ध के समान सब कुछ छोड़कर छूट जाना भी हर एक के लिए न संभव है, न आवश्यक ही। "हमारे लिए यही पर्याप्त है कि हम प्रारम्भ कर दें।"

ईशावास्योपनिषद

'दि ईशावास्योपनिषद्' नामक निबन्ध में श्री अरविन्द ने शिष्य की जिज्ञासा शांत करते हुए गुरु के वचन के द्वारा अपना मन्तव्य प्रकट किया है। एक स्थान पर गुरु कहता है—"शंकराचार्य अविकसित मन वाले नहीं थे किन्तु उन्हें अविकसित मन वाले व्यक्तियों के बीच काम करना था और उनकी भाषा बोलनी थी। यदि उन्होंने 'कर्म' को उचित कह दिया होता तो कितना भी विद्वान् होने पर भी जन-साधारण नहीं समझ पाता और अपने कर्मकाण्ड में ही संलग्न रहता। वस्तुतः भाषागत इसी कठिनाई के कारण, इसकी स्वाभाविक अपूर्णता तथा भाषा का प्रयोग करने वाले मनों की अपूर्णता के कारण धर्म और दर्शन में भ्रम तथा भेद-भाव उत्पन्न होता है क्योंकि वस्तुतः धर्म और दर्शन एक और भेदरहित हैं। और न शंकर ही कर्म के ऐसे विरोधी थे जैसा उनके कुछ स्थलों पर दिए गए तर्कों की प्रचण्डता के कारण कल्पना सामान्यतया कर ली गई है।"

श्री अरविन्द के इस निबन्ध में पाश्चात्य भ्रमों को दूर करने वाले अनेक विचार व विवेचन मिलते हैं।

ईशोपनिषद-रहस्य

यह निबन्ध अपूर्ण रहा। इसमें श्री अरविन्द ने बताया है कि हमारे पूर्वजों ने वैदिक सत्य का साक्षात्कार किया था, किसी तार्किक पद्धति से या बौद्धिक चिन्तन मात्र से उसे प्राप्त नहीं किया था।···"भारतीय मन के बढ़ते हुए बौद्धिकीकरण ने हमारी बड़ी राष्ट्रीय हानि की है···।"

१५. गीता-प्रबन्ध

श्री अरविन्द की कृति 'गीता-प्रवन्ध' (एसेज़ आन दि गीता) १९२२ में सर्व-प्रथम पुस्तकाकार प्रकाशित होने से पहले 'आर्य' में दो क्रमों में प्रकाशित (अगस्त १९१६ से जुलाई १९१८ तक तथा अगस्त १९१८ से जुलाई १९२० तक) हुई थी। श्री अरविन्द ने इस कृति में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की अपूर्व व्याख्या की है। इसमें कुल मिलाकर ४८ निवन्ध हैं—

१. गीता से हमारी आवश्यकता और मांग
२. भगवान-गुरु
३. मानव-शिष्य
४. उपदेश का सार मर्म
५. कुरुक्षेत्र
६. मनुष्य और जीवन-संग्राम
७. आर्य क्षत्रिय-धर्म
८. सांख्य और योग
९. सांख्य, योग और वेदान्त
१०. बुद्धि योग
११. कर्म और यज्ञ
१२. यज्ञ-रहस्य
१३. यज्ञ के अधीश्वर
१४. दिव्य कर्म का सिद्धान्त
१५. अवतार की सम्भावना और हेतु
१६. भगवान की अवतरण-प्रणाली
१७. दिव्य जन्म और दिव्य कर्म
१८. दिव्य कर्मी
१९. समत्व
२०. समत्व और ज्ञान
२१. प्रकृति का नियतिवदा
२२. त्रिगुणातीतता
२३. निर्वाण और संसार के कर्म
२४. कर्मयोग का सारतत्त्व
२५. दो प्रकृतियां
२६. भक्ति-ज्ञान-समन्वय
२७. परम ईश्वर
२८. राजगुह्य
२९. दिव्य सत्य और मार्ग
३०. कर्म, भक्ति और ज्ञान
३१. गीता का महावाक्य
३२. भगवान का विभूतितत्त्व
३३. विभूति का सिद्धान्त
३४. विश्व रूपदर्शन (संहारक काल)
३५. विश्वरूप दर्शन (दोहरा रूप)
३६. मार्ग और भक्त
३७. क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ
३८. त्रिगुणातीतता
३९. तीन पुरुष
४०. आध्यात्मिक कर्म की परिपूर्णता
४१. देव और असुर
४२. त्रिगुण, श्रद्धा और कर्म

४३. त्रिगुण, मन और कर्म
४४. स्वभाव और स्वधर्म
४५. परम रहस्य की ओर
४६. परम रहस्य
४७. गीता का सार
४८. गीता का सन्देश

इन निवन्धों में गीता के महत्त्वपूर्ण स्थलों का रहस्य उद्घाटित किया गया है। उनके अनुसार "गीता नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र का ग्रन्थ नहीं है अपितु आध्यात्मिक जीवन का ग्रन्थ है।...वास्तव में यह ग्रन्थ मूलतः एक योगशास्त्र है और जिस योग का वह उपदेश करता है, उसकी व्यावहारिक पद्धति इसमें वतायी गयी है, औरजो तात्विक विचार इसमें आए हैं वे इसके योग की व्यावहारिक व्याख्या करनेके लिए ही लिए गए हैं।...इसमें ज्ञान और भक्ति के भवन को कर्म की नींव पर खड़ा किया गया है और कर्म को भी कर्म की परिसमाप्ति-रूप ज्ञान में ऊपर उठाकर रखा गया है तथा कर्म का पोषण उस भक्ति द्वारा किया गया है जो कर्म का प्राण है और जहां से कर्म उद्भूत होते हैं।"

श्री अरविन्द ने प्रथम निवन्ध में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि गीता के इस अध्ययन का हेतु उसका सच्चा अभिप्राय जानना है, उससे दिव्य प्रकाश पाना है, न कि उसमें किसी दार्शनिक सिद्धान्त को सिद्ध करना इत्यादि। साधारणतया "कोई भी जिस ग्रन्थ या मत को मानता है उसी को सव कुछ जानता है, यह देख भी नहीं पाता कि उसके परे और भी कुछ है।...प्रत्येक सद्ग्रन्थ में दो तरह की वातें हुआ करती हैं, एक सामयिक नश्वर, देशविशेष और कालविशेष से सम्वन्ध रखने वाली, और दूसरी शाश्वत, अविनश्वर, सव कालों और देशों के लिए समान रूप से उपयोगी और व्यवहार्य।" काल के प्रभाव से शव्द-प्रयोगों और संकेतों के अर्थों में परिवर्तन होता रहता है। और इस कारण शाश्वत सन्देश देने वाले सद्-ग्रन्थों का भी मूल भाव या अर्थ कालान्तर में समझा जाना प्रायः असंभव हो जाता है। गीता के विषय में भी यही सत्य है। गीता के विविध भाष्यों में प्रकट मतभेदों में भी यही वात दिखाई देती है। अतः श्री अरविन्द के अनुसार गीता के भाव को, "उसके तत्त्वदर्शन से अलग जो प्रकृत जीते-जागते तथ्य हैं" उन्हें खोजने व जीवन में चरितार्थ करने से उसका महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्राप्त हो सकेगा।" और इसी को देने के लिए सद्ग्रन्थों की रचना हुई थी, शेप जो कुछ है, वह शास्त्रीय वादविवाद या धार्मिक मान्यता है। श्री अरविन्द एक महत्त्वपूर्ण वात कहते हैं—"केवल ऐसे ही सद्ग्रन्थ, धर्मशास्त्र और दर्शन मनुष्य जाति के काम के वने रहते हैं जो इस प्रकार नित नये होते रहे हों, जो पुनः-पुनः जीवन में चरितार्थ किए जाते हों...इसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह भूतकाल का भव्य स्मारक तो है परन्तु उसमें भविष्य के लिए कोई यथार्थ शक्ति या सजीव प्रेरणा नहीं है।"

श्री अरविन्द गीता की विषय-सामग्री की देशकालातीतता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—"गीता में ऐसा विषय वहुत ही कम है जो केवल एकदेशीय

और सामयिक हो और जो है भी उसका आशय इतना उदार, गंभीर और व्यापक है कि उसे बिना किसी विशेष आयास के, और इसकी शिक्षा का तनिक भी ह्रास या अतिक्रम किए बिना, व्यापक रूप दिया जा सकता है।" "गीता की विचारधारा व्यापक है" और उसके पीछे की समन्वयात्मक बुद्धि तथा समन्वयात्मक अनुभूति उत्कृष्ट है। गीता किसी साम्प्रदायिक आचार्य या कोरे दार्शनिक की कृति नहीं है और "गीता का उपदेश सबके लिए है, उसका मूल भले ही कुछ भी रहा हो।" गीता की महानता इसमें है कि वह "तर्क की लड़ाई का हथियार नहीं है; यह वह महाद्वार है जिसमें समस्त आध्यात्मिक सत्य और अनुभूति के जगत की झांकी होती है और इस झांकी में उस परम दिव्य धाम के सभी धाम यथास्थान दीख पड़ते हैं।"

श्री अरविन्द इस बात का महत्त्व बताते हैं कि गीता का उपदेश देने वाले गुरु स्वयं भगवान हैं। उनके अनुसार "हृदय के इस (ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे··· तिष्ठति—गीता के अनुसार) गूढ़ाशय के ऊपर से जब आवरण हटा लिया जाता है और ईश्वर का साक्षात् दर्शन करके मनुष्य उनसे प्रत्यक्ष संभाषण करता है, उनके दिव्य शब्द सुनता है, उनकी दिव्य ज्योति ग्रहण करता है और उनकी दिव्य शक्ति से युक्त होकर कर्म करता है, तब इस मनुष्य-शरीर-धारी सचेतन जीव का परमोद्धार होकर उस अज-अविनाशी-शाश्वत स्वरूप को प्राप्त होना सम्भव होता है।" श्री अरविन्द के अनुसार "गीता मानवरूप में भगवान के अवतार लेने के सिद्धान्त को मानती है, क्योंकि भगवान गीता में मानव-रूप में बार-बार युग-युग में प्रकट होने की बात कहते हैं।" साथ ही "गीता के उपदेष्टा गुरु केवल मनुष्य के वे अन्तर्योगी ईश्वर ही नहीं हैं जो केवल ज्ञान के उपदेशक रूप में प्रकट होते हों अपितु मनुष्य के वे अन्तर्योगी ईश्वर हैं जो सारे कर्म-जगत के संचालक हैं, जिनसे और जिनके लिए समस्त मानव-जीवन यात्रा कर रहा है। वे सब कर्मों और यज्ञों के छिपे हुए स्वामी और सुहृद हैं।"

भगवान का शिष्य एक मानव

गीतोपदेश में श्रीकृष्ण का शिष्य अर्जुन यहां "एक महान् जगतव्यापी संघर्ष में राष्ट्रों और मनुष्यों के भगवत-परिचालित कर्म को करने वाला एक प्रतिनिधि पुरुष है। अहं भाव से परिचालित शिष्य को एक विशिष्ट क्षण में गुरु "निम्न जीवन से उठाकर पराचेतना में ले जाना चाहता है···और उस स्तर को प्राप्त करना चाहता है जो कर्म के परे है परन्तु है कर्म का उत्पादन और व्यवस्थापन करने वाला।"

गीतोपदेश का सार

श्री अरविन्द के अनुसार "गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है, वह मानव-कर्म नहीं अपितु दिव्य कर्म है।···समाज-सेवा नहीं अपितु श्रेष्ठ, दिव्य महापुरुषों का कर्म है जो अहम् भाव के बिना संसार के लिए भगवान की प्रीति-निमित्त यज्ञ-रूप से किया जाता है जो मनुष्य और प्रकृति के पीछे सदा विद्यमान है" और इस प्रकार गीता "आध्यात्मिक जीवन का ग्रन्थ है, नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र का नहीं। गीता मानवता से ऊपर का उपदेश देती है—"आधुनिकों की बुद्धि मानवता के घेरे के अन्दर ही रहती है और गीता कहती है कि भगवान में रहो; इसका जीना केवल इसी के प्राण, हृदय और बुद्धि में है और गीता कहती है कि आत्मा में जिओ।···गीता निःस्वार्थ कर्तव्य-पालन की शिक्षा नहीं देती, अपितु दिव्य जीवन बिताने की शिक्षा देती है।

श्री अरविन्द कुरुक्षेत्र का भी रहस्यमय अर्थ करते हैं—"हमें कुरुक्षेत्र को मानना होगा, मृत्यु के द्वारा जीवन का जो विधान है, उसे स्वीकार करना होगा, तभी हम अमर जीवन के पथ का अनुसन्धान कर सकेंगे।"

श्री अरविन्द ने भारतीय संस्कृति की युद्ध-सम्बन्धी दृष्टि का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है—"गीता एक योद्धा से कही गई है जो कर्मठ है; उसके जीवन का कर्तव्य है युद्ध और संरक्षण। युद्ध उसके प्रजापालन धर्म का एक अंग है, उन लोगों की रक्षा के लिए जो युद्ध-कर्म से मुक्त हैं······आधुनिकों की जो यह भावना है कि अखिल मानव कर्म के सभी मुख्य-मुख्य विभागों में सब मनुष्यों को ही समान रूप से योगदान करना चाहिए···इस आधुनिक व्यवस्था का परिणाम यह हुआ है कि राष्ट्र का सारा पुरुषत्व रक्तरंजित खाइयों में मरने और मारने के लिए ढकेल दिया जाता है। विचारक, कलाकार, दार्शनिक, पुजारी, व्यवसायी और कारीगर, सभी अपने स्वाभाविक कर्म से अलग कर दिए जाते हैं, समाज का सारा जीवन अव्यवस्थित हो जाता है···राष्ट्र-संरक्षण का भाव बढ़ते-बढ़ते उन्माद की सीमा तक पहुंच जाता है······इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का यह मुख्य लक्ष्य था कि युद्ध और उससे होने वाला अनर्थ और विनाश, जहां तक हो सके, कम से कम हो। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए भारतीय समाज-व्यवस्था में क्षात्र-धर्म समाज के एक ऐसे छोटे से वर्ग के लोगों में ही परिसीमित कर दिया गया था जो अपने जन्म, स्वभाव और परम्परा से इस कर्म के लिए विशेष उपयुक्त थे···और फलतः वह (युद्ध) जीवन उनके आत्मविकास का एक साधन होता था, क्योंकि किसी उच्च आदर्श को सामने रहकर जो लोग योद्धा-जीवन बिताते हैं, उनके आत्मविकास के लिए यह जीवन एक क्षेत्र और अवसर बन जाता है।···क्षत्रिय, मनुष्य में विद्यमान योद्धा का प्रतीक और मूर्त रूप हैं।" श्री अरविन्द अपनी

मीमांसा में बताते हैं कि "शारीरिक नहीं अपितु आन्तरिक तपस्या ही गीता में अभिप्रेत है।"

श्री अरविन्द के अनुसार "गीता के प्रथम छह अध्यायों का सम्पूर्ण लक्ष्य सांख्य और योग, इन दो मार्गों को, जिन्हें सामान्यतया एक-दूसरे से भिन्न और विरोधी समझा जाता है, वेदांतिक सत्य के विशाल आयतन में समन्वित करना है।··· वस्तुतः गीता का कहना ही यह है कि यज्ञ केवल जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग ही नहीं है, अपितु सम्पूर्ण जीवन और समस्त कर्म यज्ञ ही होने चाहिएं, अवश्य ही अज्ञानी लोग उच्चतर ज्ञान के बिना ही और महामूढ़ तो 'अविधिपूर्वक' भी यज्ञ करते हैं।" वस्तुतः शास्त्र सर्वोपरि नहीं है—"शास्त्रों की भी एक सीमा है और इस सीमा को पार करने के पश्चात उनकी कोई उपयोगिता नहीं रहती। ज्ञान का वास्तविक मूल है हृदय में विराजमान ईश्वर।···श्रुत हो या अश्रुत वह सदा सत्य ही है जिसको मनुष्य अपने हृदय की ज्योतिर्मय गंभीर गुहा में देखता है या अखिल ज्ञान के स्वामी सनातन वेदविद् सर्वज्ञ परमेश्वर से अपने हृद्देश में श्रवण करता है।"

श्री अरविन्द गीता के बुद्धियोग के विवेचन में बताते हैं कि "समाधि की कसौटी है सब कामनाओं का बहिष्कार, किसी भी कामना का मन तक न पहुंच सकना।···मुक्त पुरुष का महान लक्षण समता है और समता की पहचान के लिए जो अति स्पष्ट चिह्न हैं, वे भी आंतरिक हैं।" किन्तु गीता की शिक्षा में "आत्मवान पुरुष कर्म से विरत नहीं होता। यही गीता की मौलिकता और शक्ति है कि पुरुष की इस स्थितिशील अवस्था का प्रतिपादन करके भी प्रकृति पर पुरुष का श्रेष्ठत्व बता कर भी, मुक्त पुरुष के लिए प्रकृति की साधारण क्रिया की निःसारता को दिखाकर भी, वह उसे कर्म करते रहने को कहती है, कर्म का उपदेश करती है और ऐसा करने के कारण गीता उस बड़े भारी दोष से बच जाती है जो मात्र शान्तिकामी और वैरागी मतों में पाया जाता है।"

श्री अरविन्द गीता के 'निःस्वार्थ कर्म' की व्याख्या में उसे मात्र आर्यों के प्रचलित वैदिक नित्यकर्म व सामाजिक कर्तव्य नहीं मानते—"मुझे लगता है कि गीता की शिक्षा इतनी अनगढ़ और सहज नहीं है, इतनी देशकाल-मर्यादित और लौकिक तथा अनुदार नहीं है; सब काल और सब मनुष्यों के लिए है, किसी विशेष समय और देश के लिए नहीं। गीता की यह विशेषता है कि यह सदा बाहरी आकारों, विवरणों और साम्प्रदायिक धारणाओं के बंधनों को तोड़कर मूल सिद्धान्तों की ओर तथा हमारे स्वभाव और हमारी सत्ता के महान तथ्यों के प्रति अभिमुख होती है।" गीता की शिक्षा में "कर्म बाधा नहीं है अपितु परम ज्ञान के साधन हैं।"

श्री अरविन्द ने गीता के यज्ञ-तत्त्व का रहस्य खोला है। वे 'यज्ञ' का अर्थ

आनुष्ठानिक यज्ञ नहीं मानते "क्योंकि यह शेप ग्रन्थ के विरुद्ध होगा।···प्रकृति का सारा कर्म ही, अपने वास्तविक रूप में यज्ञ है···और इन भगवान को जो सर्वगत हैं तथा यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित हैं···जानना ही सच्चा वैदिक ज्ञान है।" वे पुनः कहते हैं—"इससे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यहां यज्ञ सम्बन्धी वर्णन रूपकात्मक है और इस शिक्षा के द्वारा जिस यज्ञ को करने के लिए कहा गया है वह यज्ञ आंतरिक है। प्राचीन वैदिक पद्धति में सदा ही दो प्रकार का अर्थ रहा है, एक भौतिक और दूसरा मनोवैज्ञानिक, एक वाह्य और दूसरा रूपकात्मक, एक यज्ञ का वाह्य अनुष्ठान और दूसरा उसकी सव विधियों का आंतरिक आशय। ···यज्ञ की अग्नि भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत ब्रह्माग्नि अथवा ब्रह्म की ओर जाने वाली ऊर्जा, आभ्यंतर अग्नि। यज्ञ पुरोहित स्वरूप अन्तःशक्ति है जिसमें आहुति दी जाती है।" विपय को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—"अग्नि है आत्मसंयम या विशुद्ध इन्द्रिय-क्रिया अथवा राजयोग और हठयोग में समान रूप से प्रयुक्त प्राणायाम-साधन की प्राणशक्ति, अथवा अग्नि है आत्म ज्ञानाग्नि, आत्मार्पण रूप यज्ञ की अग्निशिखा।" ऐसे यज्ञ का लाभ है दिव्यत्व की प्राप्ति—"कामवर्जित यज्ञार्थ कर्मों के करने से हमें ज्ञान होता है और आत्मा अपने आपको पा लेती है; आत्मज्ञान और परमात्म ज्ञान के स्थित होकर कर्म करने से हम मुक्त हो जाते हैं और भागवत सत्ता की एकता, शान्ति और आनन्द में प्रवेश करते हैं।"

वे गीता के गुह्यतम रहस्य को भली प्रकार पहचानते हैं, यह है मनुष्य की पूर्णता अर्थात् "कर्मो के प्रभु और यज्ञ की अन्तरात्मा" भगवान में जीना और भागवत चेतना से एक रूप हो जाना। योग का लक्ष्य यही है—"भगवान पुरुषोत्तम के साथ सजीव और स्वतः परिपूर्ण एकता ही योग का वास्तविक लक्ष्य है, केवल अक्षर ब्रह्म में स्वयं को मिटा देने वाला लय नहीं।"

श्री अरविन्द गीतोक्त दिव्य कर्म का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं—"शांत पुरुष के आंतर नैष्कर्म्य को प्राप्त होकर और प्रकृति को अपना काम करने के लिए स्वतन्त्र छोड़कर हम कर्मों के परे उस परम पद को, उस दिव्य प्रभुत्व को, प्राप्त कर सकते हैं जिसमें सब कर्म किए जा सकते हैं परन्तु बंधन किसी का नहीं होता।··· यज्ञ कर्म मुक्ति और पूर्ण संसिद्धि के साधक हैं।" श्री अरविन्द देश-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व आदि का उपयोग व्यक्ति को उस भूमिका में लाने के लिए ही मानते हैं जिसमें वह "यह अनुभव करता है कि मेरा अस्तित्व दूसरे सब प्राणियों के अस्तित्व के साथ एक है।" परन्तु गीता और आगे तक जाती है। गीता का लक्ष्य उसे आध्यात्मिक अर्थ में 'प्रकाशमान द्रष्टा और स्वराट्' बनाना है। "व्यक्ति के लिए वैदिक ऋषियों का यही लक्ष्य था कि वह जो कुछ है उसके आगे बढ़े, अपने वैयक्तिक उद्देश्यों को किसी सुसंगठित मनुष्य-समाज के उद्देश्य में खोकर नहीं, अपितु ईश्वर की चेतना में स्वयं को विस्तृत करके, ऊंचा करके और बढ़ाके।" और यह विधान

अतिमानव के लिए है, दिव्य हो गए मानव के लिए है और श्री अरविन्द वताते हैं कि "यह अतिमानवता नीत्शे की अतिमानवता नहीं है, यह अतिमानवता यूनानी ओलिम्पस, अपोलो या डायोनीसियस जैसी अथवा देवदूत और दैत्य के जैसी अतिमानवता नहीं है। गीता का अतिमानव वह मनुष्य है जिसका सारा व्यक्तित्व एकमेवाद्वितीय, परात्पर, विश्वव्यापी, भगवान की सत्ता, प्रकृति और चेतना पर उत्सर्ग हो गया है और जिसने अपने दिव्य स्वरूप को पा लिया है।"

श्री अरविन्द ने अवतार-तत्त्व का भी सुन्दर विवेचन किया है। वे कहते हैं—"गीता हमें वतलाती है कि साधारण मनुष्य जिस प्रकार विकास करता हुआ या ऊपर उठता हुआ भागवत जन्म को प्राप्त होता है, उसका नाम अवतार नहीं है अपितु भगवान जव मानवता के अन्दर प्रत्यक्ष रूप में उतर आते हैं और मनुष्य के ढांचे को पहन लेते हैं, तव वह अवतार कहलाते हैं।" भगवान अपने अवतार-रूप में विभूति भी होते हैं किन्तु प्रत्येक विभूति अवतार नहीं होती क्योंकि "यदि विभूति और अवतार एक ही होते तो अर्जुन, व्यास, उशना सव वैसे ही अवतार होते जैसे श्रीकृष्ण थे, चाहे उनमें अवतारपन की शक्ति इनसे कुछ कम ही होती। परन्तु दिव्य गुण का होना ही पर्याप्त नहीं है। अवतार होना तो तव कहा जा सकता है जव अपने परमेश्वर और परमात्मा होने का आंतरिक ज्ञान हो और यह ज्ञान हो कि हम अपनी भागवत सत्ता से मानव-प्रकृति का शासन कर रहे हैं।" और "व्यष्टिगत मानव-पुरुष में स्वर्गराज्य का निर्माण करना जैसे भगवद्वतार का उद्देश्य होता है, वैसे ही मानव-समष्टि के लिए भी स्वर्ग-राज्य को पृथ्वी के निकटतर ले आना उनका उद्देश्य होता है।" किन्तु जव भगवान का अवतार होता है, तव सभी न उसको पहचानते हैं, न उसका लाभ उठा पाते हैं। केवल वे लोग आंतरिक लाभ उठा पाते हैं जो भगवदाश्रित तथा भगवन्मय होकर रहते हैं। अवतार का व्यक्तित्व भी ऐसा होता है "जो मनुष्य की चेतना में वस जाए और उसके अहं-भावापन्न परिसीमित व्यक्तित्व का स्थान ले ले।"

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रंथ ही अमूल्य विचार-रत्नों से ओतप्रोत है। समर्पण-मंत्र के प्रचारक श्री अरविन्द गीता को दिव्य गुरु का दिव्य संदेश मानते हैं जिससे आत्मा को स्वातंत्र्य प्राप्त हो सकता है। उनके शब्दों में गीता का संदेश यही है—"अपनी आत्मा को जानो, अपने वास्तविक आत्मा को ईश्वर जानो और उसे अन्य सवके आत्मा के साथ एक जानो। अपनी अन्तरात्मा को परमेश्वर का एक अंश जानो। और फिर जो जानते हो उसी ज्ञान में निवास करो। अपनी आत्मा में स्थित रहो। अपनी परा आध्यात्मिक प्रकृति में निवास करो। भगवान के साथ योगयुक्त हो जाओ और भगवत्तुल्य वनो…। और इसके लिए वे दिव्य कर्म का अभ्यास तथा समर्पण के राजमार्ग का, श्रद्धा का महत्त्व वताते हैं और आधुनिक युग की भाषा में गीता के तत्त्व को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करते हैं।

१६. भारतीय संस्कृति के आधार

श्री अरविन्द की कृतियों में 'भारतीय संस्कृति के आधार' (दि फ़ाउण्डेशन्स आफ़ इण्डियन कल्चर) को आज वड़ी उत्सुकता से पढ़ा जाता है। वस्तुतः इसमें उनके अनेक निवन्ध संग्रहीत हैं जो 'आर्य' में १५ दिसम्बर १९१८ से १५ जनवरी १९२१ के मध्य अनेक अंकों में छपे थे—'इज़ इण्डिया सिविलाइज़्ड' (वर्ष ५ अंक ५-७), 'ए राशनलिस्टिक क्रिटिक आन इण्डियन कल्चर' (५।७-१२), 'ए डिफेंस आफ इण्डियन कल्चर' (६।१-७।६)। इनके साथ ही 'इण्डियन कल्चर ऐण्ड एक्सटर्नल इन्फलुएंस' शीर्षक निवंध (आर्य ५।८) को भी विपय से सम्बन्धित होने के कारण अगस्त १९६८ के संस्करण में समाविष्ट कर दिया गया है।

प्रथम निवन्ध

प्रथम निवन्ध : 'प्रश्न क्या भारत सभ्य है ?' सर जान उड्रफ (जो तंत्र-दर्शन के विद्वान व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हुए) की कृति 'इज़ इण्डिया सिवि-लाइज्ड' (क्या भारत सभ्य है ?) की प्रशस्तिपूर्ण समीक्षात्मक कृति से अधिक है। विलियम आर्चर नामक एक अंग्रेज़ नाट्य-समालोचक के अतिशयोक्तिपूर्ण कटाक्ष के उत्तर में सर जान उड्रफ ने अपनी प्रशंसनीय पुस्तक लिखी थी। श्री अरविन्द ने श्री उड्रफ की प्रशंसा तो की है, प्रश्न पर नए सिरे से विचार भी किया है। यह निवन्ध तीन अध्यायों में पूर्ण हुआ है। सर जान उड्रफ की पुस्तक का उल्लेख करते हुए श्री अरविन्द ने उसका सार-संक्षेप प्रस्तुत किया है। श्री उड्रफ ने भारत को पूर्णतया यूरोपीय रंग में रंगने तथा तर्कवादी एवं जड़वादी वनाने के लिए चल रहे सांस्कृतिक आक्रमण और भारत के लिए जीवन-मृत्यु का क्षण उपस्थित होने का संकेत किया था। श्री अरविन्द के अनुसार 'इस चेतावनी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यूरोप के लेखकों, पत्रकारों एवं राजनीतिज्ञों के हाल के उद्‌गार, भारत के विरुद्ध लिखी गयी नयी पुस्तकें और लेख आदि तथा पाश्चात्य देशों की जनता के द्वारा किया गया उनका सहर्प और सोत्साह स्वागत—ये सभी संकट की यथार्थता के सूचक हैं।

किन्तु श्री अरविन्द उड्रफ के सभी विचारों से सहमत नहीं हैं। यूरोप की

मध्ययुगीन सभ्यता की स्तुति को वे स्वीकार नहीं करते और पीछे की यूरोपीय संस्कृति पर श्री उड्रफ के आघात को कुछ अधिक कठोर कहते हैं। "यह मुख्यतः आर्थिक ढंग की सभ्यता अपनी उपयोगिता की जड़वाद की प्रवृत्ति में काफी कुत्सित रही है। अतः यदि हमने इसका अनुसरण किया तो हम एक भद्दी भूल करेंगे; तो भी कुछ उत्कृष्टतर आदर्शों ने, जिनसे मानव जाति का बहुत कुछ हित-साधन हुआ है, इसे अवश्य ऊँचा उठाया है।" श्री अरविन्द इन आदर्शों को भी 'स्थूल व अपूर्ण' कहते हैं तथा यह चेतावनी देते हैं कि "इससे पूर्व कि उन्हें भारतीय मन पूर्ण रूप से अंगीकार कर सके इनके आशय को अध्यात्ममय करना आवश्यक है।" उनके अनुसार श्री उड्रफ़ ने भारत के पुनरुज्जीवन की शक्ति का—उसकी आध्यात्मिक व अन्तर्निहित शक्ति का, बाहरी शक्ति का नहीं—मूल्य कम आंका है और दास-प्रकृति वाले भारतीयों को अधिक महत्त्व दिया है। यह दास-प्रकृति भारतीय यह मानता है कि 'यूरोप की संस्थाएं वह मानदण्ड हैं जिसके द्वारा भारत की आकांक्षाएं निर्धारित होती हैं।" वे श्री उड्रफ की कृति के दो अन्य अभावों की ओर भी संकेत करते हैं—"मजदूर वर्ग द्वारा संचालित तथा इसकी असंस्कृत युद्धप्रियता के द्वारा अनुप्राणित प्रचण्ड कम्युनिज्म के नए आक्रमण" की चर्चा न करना तथा भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा का यूरोप व अमेरिका के अन्दर अधिकाधिक प्रवेश को पर्याप्त महत्त्व न देना।"

श्री अरविन्द का मत है कि सर जान उड्रफ के अनुसार सबल आत्मरक्षा के लिए भारत प्रयत्नशील हो, यह आवश्यक तो है परन्तु पर्याप्त नहीं है। प्रतिरक्षा को सफल करने के लिए एक तीव्र आक्रमण की भी आवश्यकता है। समस्त शक्ति, सृजन और कर्मशीलता यूरोप की ओर देखने के कारण ही भारतीयों का एक वर्ग यूरोपीय संस्कृति से सम्मोहित दिखाई देता है। "परन्तु जहां कहीं भारतीय आत्मा ओजस्वी रूप में प्रतिक्रिया तथा आक्रमण करने और उत्साह के साथ सृजन करने में प्रवृत्त हुई है, वहां 'यूरोपीय चमक-दमक की सम्मोहिनी शक्ति, तुरन्त ही लुप्त होने लगी है।" श्री अरविन्द ने तीन क्षेत्रों से उदाहरण दिए हैं—धार्मिक क्षेत्र में थियोसॉफी का आन्दोलन तथा शिकागो में स्वामी विवेकानन्द का प्रकट होना, सौन्दर्य सम्बन्धी क्षेत्रों में धूम मचा देने वाली वंगीय चित्रकला तथा राजनीति के क्षेत्र में स्वदेशी-आन्दोलन। स्वदेशी-आन्दोलन के पहले "ऐसा दिखाई देता था कि अनुकरणात्मक यूरोपीय पद्धति को छोड़कर और किसी पद्धति से भारतीय भावना के द्वारा राजनीति के क्षेत्र में कुछ भी सृजन नहीं किया जा सकता किन्तु इस स्वदेशी-आन्दोलन ने उस असंभवता का अतिक्रमण करने का प्रयत्न किया।" निस्सन्देह राजनीतिक क्षेत्र में भारतीयकरण के प्रयास आवश्यक हैं। "जब तक यह प्रयत्न प्रारम्भ नहीं होता और सफल नहीं होता, भारत की आत्मा के लिए एक भीषण संकट बना रहेगा, क्योंकि राजनीति के क्षेत्र में यूरोपीयकरण से अनेक बार

सामाजिक क्षेत्र में भी वैसी ही प्रवृत्ति का दौरा चलेगा जो अपने साथ सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मृत्यु को ले आएगा।"

विजातीय को वहिष्कार करने की नीति अव सफल नहीं हो सकती क्योंकि अव विश्व एकता की ओर वढ़ रहा है। यूरोप के शासन में होने के कारण सारा जगत पाश्चात्य सभ्यता में दीक्षित हो जाने की सम्भावना है परन्तु अव तो भारत का प्रभाव भी विश्व पर पड़ रहा है।

आध्यात्मिकता पर भारत का एकाधिकार नहीं है, क्योंकि "यह मानव-प्रकृति का एक आवश्यक अंग है। वस अन्तर यह है कि कहीं तो आध्यात्मिकता को गौण शक्ति के रूप में मान्यता मिलती है, या उसे दवा दिया जाता है या छिपे रूपों में ही आगे आने दिया जाता है और कहीं—जैसे भारत में—आध्यात्मिकता को आन्तरिक तथा वाह्य दोनों प्रकार के जीवन का प्रमुख उद्देश्य एवं निर्धारित शक्ति वना दिया जाता है।" आज अन्य राष्ट्रों में आध्यात्मिकता की व्यापकता कम या लुप्त हो गई है अथवा "आज वे इस 'संकट में हैं' कि वे अपने ऊपर आक्रमण करने वाले आर्थिक, व्यावसायिक, औद्योगिक, वौद्धिक तथा उपयोगितावादी आधुनिक आदर्श के हित इसे छोड़ वैठेंगे।" और आज केवल भारत ही आध्यात्मिक आदर्श के मूल स्वरूप के प्रति निष्ठावान दिखाई देता है। वह पश्चिमी आदर्शों से कुछ प्रभावित तो हुआ है, परन्तु अभी तक हारा नहीं है।" श्री अरविन्द ने सूक्ष्म रूप में कहा है—"अंग्रेजी विचारों एवं संस्कृति का अनुकरण करने की प्रवृत्ति की वाढ़ समाप्त हो गई है। किन्तु एक और उससे भी भयानक चीज़ अभी ही प्रारंभ हुई है और वह है सामान्यतया यूरोप महाद्वीप की सांस्कृतिक और विशेषकर क्रांतिकारी रूस की स्थूल एवं उग्र प्रवृत्ति का अनुकरण करने की वाढ़।" साथ ही, भारत में आध्यात्मिक जागृति ग्रा रही है। प्राचीन हिन्दू धर्म का उत्तरोत्तर पुनरुत्थान हो रहा है तथा आध्यात्मिक जागृति एवं इसके महत्त्वपूर्ण आन्दोलनों का प्रभाव विपुल रूप से फैल रहा है।" परिणाम निश्चित ही दो में से एक होगा—"या तो भारत इतनी पूरी तौर से तर्कवादी एवं व्यवसायवादी वन जाएगा कि वह पहचानने में ही न आए और तव वह भारत ही नहीं रहेगा या फिर वह एक नयी विश्व-व्यवस्था का नेता वनेगा, अपने दृष्टान्त तथा सांस्कृतिक प्रभाव-धारा के द्वारा पश्चिम की नयी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता हुआ मानव-जाति को आध्यात्मिक वनाएगा।"

अतः भारत सभ्य है या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं है। प्रश्न यह है कि भारत की आध्यात्मिक संस्कृति को विश्व का नेतृत्व करना है या दासत्व। प्रश्न यह है कि आत्मा की प्रवल शक्ति वुद्धि, मन और देह का नेतृत्व करेगी या दासत्व।

द्वितीय अध्याय

"क्या भारत सभ्य है ?" निवन्ध के दूसरे अध्याय में यह प्रश्न उठाया गया है कि "क्या मानव जाति की भावी आशा एक तर्कप्रधान एवं बुद्धिमत्तापूर्वक यंत्ररूप सभ्यता व संस्कृति में निहित है या एक आध्यात्मिक वोधिमूलक और धार्मिक सभ्यता व संस्कृति में ?" यूरोप की दृष्टि में तो 'सभ्यता और जड़वादी वुद्धि का आचार-विचार' समानार्थक है पर यदि ऐसा हो तव तो यूनानी संस्कृति को भी वर्वर कहना होगा जो संभव नहीं है। अतः सभ्यता शव्द के अर्थ को संकुचित करना मूढ़ता है और "यूनानी आदि सभ्यताओं के समान ही प्राचीन भारतीय सभ्यता को भी एक महान संस्कृति का फल" स्वीकार करना ही पड़ेगा।

पश्चिम का युक्तिवादी समालोचक भारत की प्राचीन सफलताओं को स्वीकार करने पर भी उन्हें आधुनिक काल में निरर्थक मानता है तथा "प्रगति का सच्चा मार्ग यूरोपीय आधुनिकतावाद, विज्ञान के महान कार्य और मानव-जाति के महत् आधुनिक अभियानों में से होकर कहता है," ऐसा मानता है। किन्तु भारतीय आदर्शों के प्रति निष्ठावान विचारक यही कहेगा कि "यद्यपि तर्कवुद्धि तथा विज्ञान एवं इनके अन्यान्य सहायकों का मानव-प्रयास में अपना स्थान है, परन्तु वास्तविक सत्य इनसे परे की वस्तु है। अपनी अंतिम पूर्णता का रहस्य हमें अपने अंदर, वस्तुओं तथा प्रकृति के अंदर अधिक गहरे जाकर ढूंढ़ना होगा···। स्पष्ट ही यूरोप और भारत की खाई पहले से कम चौड़ी होने पर भी दोनों की दृष्टि में मूल भेद तो है ही, परन्तु यूरोप आदि में चिन्तन के शिखरों पर एक वड़ा भारी परिवर्तन प्रारम्भ हो गया है और वह प्रगति भी कर रहा है···आज वहां सर्वत्र यह देखा जा सकता है कि लोगों की दृष्टि गंभीरतर वस्तुओं की ओर जा रही है, जिन जिज्ञासाओं को निकाल वाहर किया गया था, वे फिर से क्रमशः वापिस आ रही हैं, जो ऊंची अनुभूति अव तक प्राप्त नहीं हुई है, उनकी प्रकृति के लिए प्रेरणा जग रही है, जो विचार पश्चिमी मनोवृत्ति के लिए दीर्घकाल से विजातीय रहे हैं, उनका प्रवेश हो रहा है।"

श्री अरविन्द ने यहां अनेक उद्धरण (विदेशी लेखकों के) दिए हैं जिनमें हिन्दू धर्म व दर्शन का प्रभाव यूरोप आदि पर पड़ना स्वीकार किया गया है। यूरोपीय कला, काव्य और साहित्य पर पड़े सूक्ष्म भारतीय प्रभाव का दर्शन भी श्री अरविन्द कराते हैं। पूर्व और पश्चिम के बीच की आध्यात्मिक व बौद्धिक खाई पटने लगी है, भेद कम हो रहे हैं और "नये सत्य के अन्वेषक, अधिकाधिक भारत को अपना आध्यात्मिक निवासस्थान बना रहे हैं अथवा वे अपनी अधिकांश प्रेरणा के लिए इसके ऋणी हैं या कम-से-कम इसके प्रकाश को स्वीकारते है तथा इसका प्रभाव ग्रहण करते हैं।"

यह प्रश्न हो सकता है कि जब भारत का प्रभाव विश्व पर इतनी तेजी से

वढ़ रहा है तो भविष्य में विशिष्ट भारतीय सभ्यता वनी रहे इसकी आवश्यकता ही क्या है। परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार यह अवस्था वहुत दूर है और यूरोप में भारतीय चिन्तन उत्कृष्ट चिन्तकों के विचार की एक प्रवृत्तिमात्र है, जीवन-सम्वन्धी महान प्रेरणाओं में वह वहां के जन-जन को अभी प्रभावित नहीं कर रहा है, अतः संधि-क्षण में भारतीय संस्कृति की प्रतिरक्षा और भी आवश्यक है। साथ ही, इसकी भावना विल्कुल निराली है और इसकी आंतरिक अनुभूति की सहस्रों धाराओं की विपुल समृद्धि एवं विविधता एक ऐसी विरासत है जिसे आज भी केवल भारत ही उसके जटिल सत्य एवं संस्कृति क्रम-व्यवस्था सहित सुरक्षित रख सकता है।"

श्री अरविन्द ने अनेक प्रकार से यही कहा है कि "हमारे लिए मानव-प्रगति की सेवा करने तथा उसकी उपलब्धियों को वढ़ाने का सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भारत के पुराने स्वधर्म का नए सिरे से सृजन करें, न कि पश्चिम की प्रवृत्ति के किसी धर्म में रूपांतरित हो जाएं।" किन्तु वे यह चेतावनी भी देते हैं कि भारतीय संस्कृति की प्रतिरक्षा और आक्रमणकारी प्रतिरक्षा की अवश्य रक्षा होते हुए भी यह सोचना भयंकर भूल है कि "जो कुछ भी हमारा है, वही हमारे लिए अच्छा है क्योंकि वह भारतीय है, अथवा जो कुछ भी भारत में है वही सवसे उत्तम है क्योंकि वह ऋषियों की रचना है।" साथ ही अपनी संस्कृति के "विस्तार और परिवर्तन से कतराना भी झूठ-मूठ अपनी अक्षमता को स्वीकार करना है।" यह तो इस वात को मान लेना है कि धर्म और दर्शन में भारत की सर्जन शक्ति शंकर, रामानुज, मध्व और चैतन्य के साथ ही समाप्त हो गई और समाज-संघटन के क्षेत्र में रघुनंदन और विद्यारण्य के साथ।...यह समाज-रचना के उन रूपों से, जो ढह रहे हैं और हमारे प्रयत्नों के वावजूद भी ढहते ही चले जाएंगे, चिपके रहना है और उनके गिरने पर उनके नीचे अपने कुचले जाने का ख़तरा मोल लेना है।"

श्री अरविन्द एक सांस्कृतिक परिवर्तन का विचार प्रस्तुत करते हैं—"आवश्यकता है एक वड़े और साहसी परिवर्तन की, छोटे-मोटे परिवर्तनों से हमारा काम नहीं चलेगा।" काल के दवाव के अनुसार भी चिन्तन आवश्यक है। "आधुनिक विचार और शक्तियां एक वाढ़ के रूप में उमड़ी चली आ रही हैं और वे कोई वाधा नहीं मानेंगी। उनका सामना करने के दो ही उपाय हैं, या तो असाध्य वनकर उनका निराशामय प्रतिरोध किया जाए या उन्हें पकड़कर अपने वश में किया जाए। ...आत्मसात् हुए बिना घुसने पर तो वे विध्वंसक शक्तियों की तरह काम करेंगी, और तव कुछ अंश में तो वाह्य आक्रमण के द्वार पर उससे कहीं अधिक भीतरी विस्फोट के द्वारा यह पुरानी भारतीय सभ्यता टुकड़े-टुकड़े हो जाएगी।" श्री अरविन्द यह विचार भी व्यक्त करते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति में हमारे लिए जीवनोपयोगी तत्त्व जो मिले उसे हम प्रभावी ढंग से आत्मसात करें, यह आत्मरक्षा के लिए आवश्यक है। पाश्चात्य संस्कृति तो चुपचाप पूर्व से ग्रहण करके पुष्टहो ही रही

है। अतः अपने सांस्कृतिक नवसर्जन के साथ ही साथ भारतीय भावना के अनुरूप पाश्चात्य संस्कृति से कुछ उपयोगी तत्त्व आत्मसात करने की भी आवश्यकता है। आत्मसात करना और अनुकरण करना भिन्न-भिन्न हैं। अनुकरण, आक्रामक के यंत्रों और उपायों का स्थूल और अस्तव्यस्त अनुकरण कुछ काल के लिए उपयोगी हो सकता है, किन्तु अपने आपमें यह पराजय स्वीकार करने का केवल एक अन्य प्रकार है। उपयोगी पाश्चात्य तत्त्वों की विजातीयता समाप्त करने के लिए उनका भारतीयकरण करके ही स्वीकार करना आवश्यक है—"केवल उपयोग करना ही पर्याप्त नहीं। उसे सफलता के साथ आत्मसात करने एवं भारतीय भावना के अनुकूल बनाने की भी आवश्यकता है।" पहले भी भारत ने ऐसा किया है—"एक शाश्वत देह में नयी सामग्री पर अधिकार एवं उसका लाभप्रद स्वीकरण सदा से भारतीय प्रतिभा की अपनी विशिष्ट शक्ति रहे हैं।

तृतीय अध्याय

मानव-जाति के विकास में भारतीय सभ्यता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वह इतिहास की किसी भी मानव सभ्यता के समान ही महान रही है—धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिंतन, साहित्य, कला, समाज-संगठन, राजनीति, शिल्प, व्यापार आदि। उसमें भी दोष रहे हैं पर सर्वांगपूर्ण सभ्यता तो अभी कोई नहीं हुई है। तुलनात्मक दृष्टि से भी निस्सन्देह वह श्रेष्ठतर है। "यूनानी सभ्यता से कहीं अधिक उच्चाकांक्षी, अधिक सूक्ष्म, बहुमुखी, अनुसंधानप्रिय और गंभीर, रोमन सभ्यता की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च और कोमल, पुरानी मिस्री सभ्यता से कहीं अधिक उदार और आध्यात्मिक, अन्य किसी भी एशियाई सभ्यता से कहीं अधिक विशाल और मौलिक, अठारहवीं सदी से पहले के यूरोप की सभ्यता से कहीं अधिक बौद्धिक, इन सब सभ्यताओं में जो कुछ था, उस सब की तथा उससे भी अधिक की स्वामिनी यह भारतीय सभ्यता सभी अतीत मानव संस्कृतियों से अधिक शक्तिशाली, आत्म-स्थित, प्रेरणादायी तथा महाप्रतापशाली रही है।"

भारतीय सभ्यता काल-जर्जरित होकर विनष्ट नहीं हो गई है। "यह ठीक है कि हमारी सभ्यता के बहुत से विधि-विधान अब अनुपयोगी और जर्जरित हो गए हैं" परन्तु ऐसा तो हर सभ्यता के लिए कहा जा सकता है, यूरोपीय संस्कृति के लिए भी। "सब त्रुटियों के रहते और पतन के होते हुए भी भारतीय संस्कृति का मूल भाव, उसके उच्च विचार, उसके श्रेष्ठ आदर्श आज भी केवल भारत के लिए ही नहीं अपितु समस्त मानव-जाति के लिए संदेश लिये हुए हैं।" यही नहीं, "हम भारतवासी तो यह मानते हैं कि वह भाव, विचार एवं आदर्श नयी आवश्यकता एवं भावना के सम्पर्क में आकर अपने अन्दर से हमारी समस्याओं के ऐसे समाधान निकाल सकते हैं, जो पश्चिमी स्रोतों से उधार लिए गए पुराने समाधानों के समान

ही वल्कि उनसे भी कहीं अधिक अच्छे होंगे।"

भारतीय इतिहास में पराधीनता का काल इस वात का दृष्टान्त तो है ही कि "जाति के विकास में सुदीर्घ और समुज्ज्वल दिन के वाद भी कहीं-कहीं वरावर ही तमोरात्रि आती रहती है।" साथ ही यह भी स्पष्ट है कि "अवनति एवं पतन के निकृष्टतम काल में भी भारत की आत्मा मर नहीं गयी थी, अपितु वह केवल सुप्त थी, आवृत्त और पाशवद्ध थी। अव जव वह अनवरत आघातों के फलस्वरूप सशक्त आत्मोद्धार के लिए उठती है तव वह देख रही है कि उसकी निद्रा तो नयी शक्ति की तैयारियों के लिए केवल एक पर्दा थी।"

श्री अरविन्द ने एक महत्त्वपूर्ण वात यह रखी है कि किसी भी जीवमान सत्ता की भीतरी इच्छा पर ही घटनाओं का मूल्य निर्भर करता है और ऊपरी तथ्य से भ्रम हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति या सभ्यता हृदय से मरना चाहे—जैसे वह अतीत जीवन को भावी जीवन से अधिक पसन्द करे या उदासीनता से ग्रस्त हो जाए आदि—तो उसका विनाश होकर रहेगा। और, इसी प्रकार जीने की प्रवल इच्छा हो तो ऊपरी विरोध और पराजय से भी उसे शक्ति ही मिलती है। "भारतीय सभ्यता अपनी आत्मा की चिरंतन शक्ति के द्वारा सदा ही यही करती रही है और यही करने के लिए आज उसका पुनरुत्थान हो रहा है।"

श्री अरविन्द ने वार-वार आत्मनिरीक्षण, पाश्चात्य संस्कृति के गुण-दोषों का विचार करने आदि पर वल दिया है। वे पश्चिम से उपयोगी तत्त्वों को भारतीय भावना व आदर्शों के अनुकूल वनाकर ग्रहण करने पर तो वल देते हैं, पर साथ ही अपनी आन्तरिक शक्ति से ताज़ी धाराएं प्राप्त करने पर उससे भी अधिक। "कारण, ये धाराएं ही हमें पाश्चात्य रीति-नीतियों और प्रेरणाओं की अपेक्षा अधिक सहायता पहुंचाएंगी, क्योंकि ये हमारे लिए अधिक स्वाभाविक होंगी···साथ ही साथ उन्हें अधिक सरलता से ग्रहण कर सकेंगे और व्यवहार में इनका अनुसरण भी पूर्णता के साथ कर सकेंगे।" परन्तु इन सवसे कहीं अधिक उपयोगी है "अपने अतीत और वर्तमान से भविष्य के अपने आदर्श, न कि किसी विजातीय आदर्श, की ओर अग्रसर दृष्टि। क्योंकि भविष्य की ओर हमारी विकासात्मक गति ही हमारे अतीत व वर्तमान को उनका यथार्थ मूल्य व महत्त्व प्रदान करेगी।" "भारत के स्वरूप को जानने के लिए भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण सामग्री है। भारत का स्वभाव, उसका उद्देश्य, उसका कर्तव्य, पृथ्वी की भवितव्यता में उसका भाग तथा वह विशिष्ट शक्ति जिसके लिए वह जीवित है, उसके विगत इतिहास में लिखित है और उसके वर्तमान कष्टों व अग्नि-परीक्षाओं का गुप्त प्रयोजन है।" भारतीय संस्कृति की आत्मा की सुरक्षा तो आवश्यक है, पर उसके वाह्य रूपों क आवश्यकतानुसार नया करना होगा और उसे—"नये और शक्तिशाली

विचार व अर्थ, सांस्कृतिक सुधार, एक नए माध्यम व महत्तर रूप देने होंगे।" श्री अरविन्द आगे कहते हैं कि "जब तक हम इन सारभूत वस्तुओं को मान्यता देते रहेंगे और उनकी भावना के प्रति निष्ठावान रहेंगे, तब तक अत्यंत उग्र मानसिक या भौतिक रूप-परिवर्तनों और चरम सांस्कृतिक व सामाजिक परिवर्तनों से भी हमें कोई हानि नहीं पहुंचेगी।" किन्तु श्री अरविन्द बार-बार यह चेतावनी देते हैं कि "स्वयं इन परिवर्तनों को भी भारत की ही भावना एवं सांचे में ढालना होगा, किसी अन्य भावना या साँचे में नहीं। हमें अमरीका या यूरोप की भावना एवं जापान या रूप के सांचे के अनुसार नहीं बनना है।"

किन्तु इसके लिए आत्मालोचन अवश्य करना होगा। "अज्ञानपूर्ण पाश्चात्य आलोचना के विरुद्ध अपनी संस्कृति का समर्थन करने और आधुनिक युग के भीषण दबाव से इसकी रक्षा करने का साहस सबसे पहली वस्तु है, परन्तु इसके साथ ही अपनी संस्कृति की भूलों को, किसी यूरोपीय दृष्टिकोण से नहीं अपितु अपने ही दृष्टिकोण से स्वीकार करने का साहस भी होना चाहिए।"

निस्सन्देह भारतीय सभ्यता की भावना व उसके आदर्शों का महत्त्व तो शाश्वत है। अतीत में उनका व्यष्टि-जीवन में प्रयोग तो प्रभावी ढंग से हुआ है, पर समाज जीवन में उनका साहसपूर्ण प्रयोग करने की आवश्यकता आज भी बनी हुई है। यदि हमें आज विश्व में जीवित रहना है तो इस कार्य को पूर्ण करना पड़ेगा।

यूरोप इत्यादि यह मानकर चलते रहे हैं कि उनकी संस्कृति ही एकमात्र सत्य है पर 'आत्मा का सत्य' प्रत्येक संस्कृति से बड़ी वस्तु है। भारतीय संस्कृति ने सामंजस्य को आधार बनाया और विविधता में एकता के आधार पर एकता का दर्शन किया। किन्तु उसने अपने लिए जो शांति प्राप्त कर ली थी वह भी उसकी निष्क्रिय स्थिति के कारण बाह्य आघातों में खो गई। उसकी आक्रमण-शक्ति न रहने के कारण और आत्मसात करने की सामर्थ्य क्षीण हो जाने के कारण, भारतीय संस्कृति अपनी सीमा में ही दुर्बल होती चली गई। इस दोष को दूर करके सामंजस्य की गतिशील अवस्था निर्माण करने की आवश्यकता है। यूरोपीय संस्कृति अपनी श्रेष्ठता के दंभ के कारण विविधता के तत्त्व को स्वीकार नहीं कर पाने के कारण अन्य संस्कृतियों को नष्ट करना चाहती है। इसने भारत को अपनी संस्कृति की रक्षा करनी ही होगी। "भारत को यूरोप के इस अभिमानपूर्ण दावे और आक्रमण का प्रतिरोध करना होगा और भारी कठिनाइयों के होते हुए भी, तथा सभी के विरुद्ध, अपने गंभीरतर सत्य को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना होगा।" इसका कारण यही है कि उस सत्य से ही मानव-जाति अन्ततः प्रकाश व प्रगति की प्रेरणा प्राप्त करेगी।

ही वल्कि उनसे भी कहीं अधिक अच्छे होंगे।"

भारतीय इतिहास में पराधीनता का काल इस वात का दृष्टान्त तो है ही कि "जाति के विकास में सुदीर्घ और समुज्ज्वल दिन के वाद भी कहीं-कहीं वरावर ही तमोरात्रि आती रहती है।" साथ ही यह भी स्पष्ट है कि "अवनति एवं पतन के निकृष्टतम काल में भी भारत की आत्मा मर नहीं गयी थी, अपितु वह केवल सुप्त थी, आवृत्त और पाशवद्ध थी। अव जव वह अनवरत आघातों के फलस्वरूप सशक्त आत्मोद्धार के लिए उठती है तव वह देख रही है कि उसकी निद्रा तो नयी शक्ति की तैयारियों के लिए केवल एक पर्दा थी।"

श्री अरविन्द ने एक महत्त्वपूर्ण वात यह रखी है कि किसी भी जीवमान सत्ता की भीतरी इच्छा पर ही घटनाओं का मूल्य निर्भर करता है और ऊपरी तथ्य से भ्रम हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति या सभ्यता हृदय से मरना चाहे—जैसे वह अतीत जीवन को भावी जीवन से अधिक पसन्द करे या उदासीनता से ग्रस्त हो जाए आदि—तो उसका विनाश होकर रहेगा। और, इसी प्रकार जीने की प्रवल इच्छा हो तो ऊपरी विरोध और पराजय से भी उसे शक्ति ही मिलती है। "भारतीय सभ्यता अपनी आत्मा की चिरंतन शक्ति के द्वारा सदा ही यही करती रही है और यही करने के लिए आज उसका पुनरुत्थान हो रहा है।"

श्री अरविन्द ने वार-वार आत्मनिरीक्षण, पाश्चात्य संस्कृति के गुण-दोषों का विचार करने आदि पर वल दिया है। वे पश्चिम से उपयोगी तत्त्वों को भारतीय भावना व आदर्शों के अनुकूल वनाकर ग्रहण करने पर तो वल देते हैं, पर साथ ही अपनी आन्तरिक शक्ति से ताज़ी धाराएं प्राप्त करने पर उससे भी अधिक। "कारण, ये धाराएं ही हमें पाश्चात्य रीति-नीतियों और प्रेरणाओं की अपेक्षा अधिक सहायता पहुंचाएंगी, क्योंकि ये हमारे लिए अधिक स्वाभाविक होंगी···साथ ही साथ उन्हें अधिक सरलता से ग्रहण कर सकेंगे और व्यवहार में इनका अनुसरण भी पूर्णता के साथ कर सकेंगे।" परन्तु इन सवसे कहीं अधिक उपयोगी है "अपने अतीत और वर्तमान से भविष्य के अपने आदर्श, न कि किसी विजातीय आदर्श, की ओर अग्रसर दृष्टि। क्योंकि भविष्य की ओर हमारी विकासात्मक गति ही हमारे अतीत व वर्तमान को उनका यथार्थ मूल्य व महत्त्व प्रदान करेगी।" "भारत के स्वरूप को जानने के लिए भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण सामग्री है। भारत का स्वभाव, उसका उद्देश्य, उसका कर्तव्य, पृथ्वी की भवितव्यता में उसका भाग तथा वह विशिष्ट शक्ति जिसके लिए वह जीवित है, उसके विगत इतिहास में लिखित है और उसके वर्तमान कष्टों व अग्नि-परीक्षाओं का गुप्त प्रयोजन है।" भारतीय संस्कृति की आत्मा की सुरक्षा तो आवश्यक है, पर उसके वाह्य रूपों को आवश्यकतानुसार नया करना होगा और उसे—"नये और शक्तिशाली

विचार व अर्थ, सांस्कृतिक सुधार, एक नए माध्यम व महत्तर रूप देने होंगे।" श्री अरविन्द आगे कहते हैं कि "जब तक हम इन सारभूत वस्तुओं को मान्यता देते रहेंगे और उनकी भावना के प्रति निष्ठावान रहेंगे, तब तक अत्यंत उग्र मानसिक या भौतिक रूप-परिवर्तनों और चरम सांस्कृतिक व सामाजिक परिवर्तनों से भी हमें कोई हानि नहीं पहुंचेगी।" किन्तु श्री अरविन्द बार-बार यह चेतावनी देते हैं कि "स्वयं इन परिवर्तनों को भी भारत की ही भावना एवं सांचे में ढालना होगा, किसी अन्य भावना या साँचे में नहीं। हमें अमरीका या यूरोप की भावना एवं जापान या रूप के सांचे के अनुसार नहीं बनना है।"

किन्तु इसके लिए आत्मालोचन अवश्य करना होगा। "अज्ञानपूर्ण पाश्चात्य आलोचना के विरुद्ध अपनी संस्कृति का समर्थन करने और आधुनिक युग के भीषण दबाव से इसकी रक्षा करने का साहस सबसे पहली वस्तु है, परन्तु इसके साथ ही अपनी संस्कृति की भूलों को, किसी यूरोपीय दृष्टिकोण से नहीं अपितु अपने ही दृष्टिकोण से स्वीकार करने का साहस भी होना चाहिए।"

निस्सन्देह भारतीय सभ्यता की भावना व उसके आदर्शों का महत्त्व तो शाश्वत है। अतीत में उनका व्यष्टि-जीवन में प्रयोग तो प्रभावी ढंग से हुआ है, पर समाज जीवन में उनका साहसपूर्ण प्रयोग करने की आवश्यकता आज भी बनी हुई है। यदि हमें आज विश्व में जीवित रहना है तो इस कार्य को पूर्ण करना पड़ेगा।

यूरोप इत्यादि यह मानकर चलते रहे हैं कि उनकी संस्कृति ही एकमात्र सत्य है पर 'आत्मा का सत्य' प्रत्येक संस्कृति से बड़ी वस्तु है। भारतीय संस्कृति ने सामंजस्य को आधार बनाया और विविधता में एकता के आधार पर एकता का दर्शन किया। किन्तु उसने अपने लिए जो शांति प्राप्त कर ली थी वह भी उसकी निष्क्रिय स्थिति के कारण बाह्य आघातों में खो गई। उसकी आक्रमण-शक्ति न रहने के कारण और आत्मसात करने की सामर्थ्य क्षीण हो जाने के कारण, भारतीय संस्कृति अपनी सीमा में ही दुर्बल होती चली गई। इस दोष को दूर करके सामंजस्य की गतिशील अवस्था निर्माण करने की आवश्यकता है। यूरोपीय संस्कृति अपनी श्रेष्ठता के दंभ के कारण विविधता के तत्त्व को स्वीकार नहीं कर पाने के कारण अन्य संस्कृतियों को नष्ट करना चाहती है। इससे भारत को अपनी संस्कृति की रक्षा करनी ही होगी। "भारत को यूरोप के इस अभिमानपूर्ण दावे और आक्रमण का प्रतिरोध करना होगा और भारी कठिनाइयों के होते हुए भी, तथा सभी के विरुद्ध, अपने गंभीरतर सत्य को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना होगा।" इसका कारण यही है कि उस सत्य से ही मानव-जाति अन्ततः प्रकाश व प्रगति की प्रेरणा प्राप्त करेगी।

द्वितीय निवन्ध

श्री अरविन्द का दूसरा निवन्ध "भारतीय संस्कृति के विपय में एक युक्तिवादी आलोचक" छह अध्यायों में पूर्ण एक प्रभावी निवन्ध है। इसका सारांश इस प्रकार है—

अपनी संस्कृति से अति परिचय के कारण उसके सभी मूल्य व त्रुटियां हमारी दृष्टि में नहीं जा सकतीं और इनके लिए दूसरों की समीक्षा का महत्त्व है। "परन्तु एक विदेशी सभ्यता और संस्कृति को देखने की कई अलग-अलग दृष्टियां होती हैं। एक दृष्टि होती है सहानुभूति और अन्तर्दृष्टि की तथा विपयवस्तु के साथ एकाकार होकर गंभीर गुणान्वेपण करने की। उस दृष्टि से हमें भगिनी निवेदिता की 'वेव आफ़ इंडियन लाइफ़' या श्री फील्डिंग की वर्मा पर पुस्तक या सरजान उडरफ की तंत्र-सम्बन्धी अध्ययनों जैसी कृतियां मिलती हैं।" ऐसी कृतियां एक जाति की आत्मा को, उसके स्वरूप को, उसके आदर्श आदि को प्रकाशित करती हैं। दूसरी है एक तटस्थ आलोचक की दृष्टि जो गुण-दोप दोनों को प्रकाशित करती है। हो सकता है कि अन्तर्दृष्टि व तादात्म्य के अभाव में यह समीक्षक वहुत-सी वातों को पूरी तरह से न समझ पाया हो किन्तु इस छाया और प्रकाश से मिश्रित समीक्षा का भी महत्त्व है क्योंकि उससे अपना मूल्यांकन सुधारा जा सकता है। तीसरी है विरोधी आलोचक की दृष्टि। वह तो हमारी संस्कृति को हीन व दोपयुक्त मानता ही है। उसकी समीक्षा भी हमारी आत्मा व वुद्धि के लिए उपयोगी होती है किन्तु उससे लाभ तभी होता है जव हम उस समीक्षा से व्यथित हों या हताश न हों। हाँ, यह आवश्यक है कि विरोधी आलोचक की समीक्षा भी 'समीक्षा' होनी चाहिए, कीचड़ उछालना मात्र नहीं। "उसे तथ्यों को विना विगाड़े प्रस्तुत करना चाहिए, निर्णय की कसौटियां स्थिर रखनी चाहिएं और न्याय, विचारशीलता और संयम वनाए रखना चाहिए।"

श्री अरविन्द के अनुसार विलियम आर्चर की भारत-सम्वन्धी समीक्षा-कृति को यहां भारत-विरोधी पाश्चात्य दृष्टि के नमूने के रूप में आलोचनार्थ चुना है, वह उत्तम कोटि की रचना नहीं है। उसके कथन में तीन दोपकारक वातें हैं—उसका राजनीतिक उद्देश्य कि भारत को वर्वर सिद्ध करके स्व-शासन का दावा निर्मूल करे, उसका जान-वूझकर तथ्यों को विगाड़ना तथा भारतीय दर्शन, संगीत आदि जिन विपयों को वह दोपी घोपित कर रहा है, उनके विपय में अज्ञान। श्री अरविन्द ने व्यंगपूर्वक कहा है कि भारतीय नाटक और साहित्य के विपय में उसकी विवेचना विद्वत्तापूर्ण होने की आशा की जा सकती थी क्योंकि नाटक और साहित्य का वह विद्वान कहा जाता था "परन्तु यहां उसकी कसौटियों व युक्तियों का आश्चर्यजनक घटियापन देखकर आश्चर्य होता है कि संसार में नाटक और साहित्य के आलोचक के रूप में उसे प्रसिद्धि कैसे प्राप्त हो गई: हम समझते हैं कि या तो

यूरोपीय साहित्य के विवेचन में उसने कोई अत्यन्त भिन्न शैली अपनायी होगी, या फिर इंग्लैण्ड में इस प्रकार की प्रसिद्धि प्राप्त करना अत्यन्त सरल होगा।"

वास्तव में तो "जिनकी संस्कृति है, वे ही उसकी कृतियों का वास्तविक मूल्य जांच सकते हैं क्योंकि वे ही उसके आकार के भीतर पूर्णतया पैठ सकते हैं।" विदेशी समीक्षक की सम्मति भी उपयोगी हो सकती है, पर उनकी जिन्हें उसके सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकार हो।" भारतीय दर्शन के विषय में आर्चर इत्यादि के मत का कोई मूल्य नहीं है। "मेरे लिए, यही जानना पर्याप्त है कि एमर्सन, शोपनहावर या नीत्शे को जो इस क्षेत्र में तीन सर्वथा भिन्न प्रकार के सर्वाधिक समर्थ मनीषी हैं, या कज़िन्स और श्लीगल जैसे विचारकों को इस विषय में क्या कहना है। या फिर आधुनिकतम अन्वेषण और अनुसन्धान के फलस्वरूप भारतीय दर्शन की कुछ परिकल्पनाओं का बढ़ता हुआ प्रभाव देखना या पहले के यूरोपीय चिन्तन में उसके समानान्तर धाराएं देखना अथवा प्राचीन भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान की पुष्टि देखना ही मेरे लिए पर्याप्त है। ऐसे ही भारतीय धर्म-विषयक समीक्षार्थ के लिए टालस्टाय जैसे किसी आध्यात्मिक और धार्मिक विचारक पर पड़ी हमारे धर्म और आध्यात्मिकता की छाप का तथा भारतीय कला के सम्बन्ध में फर्गुसन, ओकाकुरा तथा लारेन्स विनयन इत्यादि के मतों का हमारे लिए मूल्य है।"

श्री अरविन्द ने आर्चर की पुस्तक को आलोचनार्थ चुना है किन्तु इसलिए नहीं कि उसमें मूर्खता की सीमा को छूने वाले निरर्थक वक्तव्य हैं, अपितु यह देखने के लिए कि एक अल्प-संस्कृत औसत पश्चिमी मन पर भारतीय संस्कृति की अनुपम विशेषताओं पर प्रथम-दृष्टि-गत का क्या प्रभाव पड़ता है। इसकी कुछ पक्षपात-पूर्ण धारणाओं का विश्लेषण करके उनके आंतर मनोभाव तक पहुंचने से यूरोप व एशिया के मतभेद के मर्म तक पहुंचा जा सकता है जिससे समन्वय की ओर बढ़ा जा सके।

दूसरे अध्याय में श्री अरविन्द ने प्रारम्भ में यह विचार रखा है कि प्राचीन यूनानी तथा मध्ययुगीन यूरोपवासी भी भारतीय मन के अधिक निकट थे। परन्तु आज महाद्वीपों के सम्बन्ध में भ्रांति होने के कारण "औसत यूरोपीय मन के लिए अब वैसी समानता रखना तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि वह उन नये विचारों से अनुप्राणित न हो जाए जो फिर एक बार महाद्वीपों के बीच की खाई को पाट रहे हैं।" यह आश्चर्य की बात लग सकती है कि "इस आधुनिक काल में ही, वैज्ञानिक और युक्तिवादी ज्ञानोदय के इस युग में ही उस भेद ने अत्यन्त सुनिश्चित रूप धारण किया है, वह भ्रांति अत्यन्त उग्र ही हो गई है और संस्कृतियों का मेल न हो सकने की भावना अत्यन्त सचेतन और आत्मप्रकाशक बन गई है।"

श्री अरविन्द ने जाति की संस्कृति का स्वरूप समझाते हुए कहा है—"साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि किसी जाति की संस्कृति उसी की जीवन-विषयक चेतना की अभिव्यक्ति होती है और वह चेतना अपने स्वयं को तीन रूपों में प्रकट करती है। उसका एक रूप है विचार, आदर्श, ऊर्ध्वगामी संकल्प और आत्मा की आकांक्षा का। दूसरा रूप है सर्जनशील आत्माभिव्यक्ति की शक्ति और गुणग्राही सौन्दर्य-बोध का, मेधा तथा कल्पना का। तीसरा रूप है व्यवहारपरक और वाह्य रूप-संघटन का।" प्रत्येक जाति के दर्शन, धर्म, कला,काव्य, साहित्य, समाज और राजनीति में से कोई भी उस जाति की सीक्रेट आत्मा (स्पिरिट) को पूर्णतया प्रकाशित तो नहीं करते किन्तु "वे सभी अपने मुख्य विचार और अपनी सांस्कृतिक विशेषता उसी से ग्रहण करते हैं। वे सब मिलकर उसके आत्मा (सोल), मन, व देह का गठन करते हैं। भारतीय सभ्यता में दर्शन और धर्म ने—धर्म द्वारा क्रियाशील दर्शन और दर्शन द्वारा आलोकित धर्म ने—नेतृत्व किया है और शेष सभी ने यथाशक्ति अनुसरण।" और "वाह्य जीवन को भी आत्मा की अन्तर्मुखी दृष्टि के अधीन रखा गया है।" आर्चर ने विद्वेषवश इस तथ्य को बिलकुल उल्टे रूप में रखा है। किन्तु श्री अरविन्द यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण का मूल्य स्वीकार करने पर भी मानव-सभ्यता का सर्वोत्तम मार्ग-दर्शन कौन कर सकता है—जीवन सम्बन्धी आध्यात्मिक एवं धार्मिक-दार्शनिक दृष्टिकोण और उसी के विचार व प्रेरणाएं अथवा तर्कवादी वहिर्मुख दृष्टिकोण। पाश्चात्य मानव का धर्म है "जीवन का धर्म, पृथ्वी और पार्थिव मानवता का धर्म, बौद्धिक विकास व प्राणगत दक्षता व शारीरिक स्वास्थ्य व सुखोपभोग तथा एक युक्तिसंगत समाज-व्यवस्था का आदर्श। यह मन भारतीय संस्कृति से दूर भागता है क्योंकि वह इसे अपरिचित और नवीन लगती है, और साथ ही यहां उसे युक्ति-विरुद्ध असामान्यता, दृष्टिकोण-विपरीतता, जटिल विधि-विधान, अतिप्राकृतिक तत्त्व इत्यादि का दर्शन होता है। भारतीय दर्शन उसे दुर्बोध व कल्पना-जाल प्रतीत होता है और भारतीय कला अस्वाभाविक और अनन्त सत्ता का व्यर्थ अनुसन्धान करती दिखाई देती है। आर्चर के कथनों का सारा आधार यही है।

श्री अरविन्द ने आर्चर द्वारा भारतीय दर्शन पर लगाए आरोपों को काटते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण वातों पर प्रकाश डाला है। यथा—"यूरोप में सर्वोच्च मनीषियों ने दर्शन का अनुशीलन किया और उससे महान व उदात्त बौद्धिक फल प्राप्त हुए हैं परन्तु वह अनुशीलन जीवन से वहुत कुछ पृथक ही रहा है, उच्च और भव्य वस्तु होने पर भी वह प्रभावहीन ही रहा है।...औसत यूरोपवासी अपने मार्ग-दर्शक विचार दार्शनिक तर्क से नहीं अपितु प्रत्यक्षवादी (पॉजिटिव) व व्यावहारिक तर्क-बुद्धि से प्राप्त करता है।...वह दार्शनिकों का सम्मान अवश्य करता है...वह उनकी सराहना तो करता है परन्तु उन पर विश्वास नहीं करता।...इसके विपरीत

भारतीय मत की मान्यता यह है कि ऋषि, अर्थात आध्यात्मिक सत्य की चिंतक एवं द्रष्टा धार्मिक और नैतिक ही नहीं अपितु व्यावहारिक जीवन का भी सर्वोत्तम मार्गदर्शक होता है। यह इस कारण है कि भारतीय को यह विश्वास है कि अंतिम सत्य आत्मा के ही सत्य हैं, और आत्मा के सत्य हमारी आत्मा के अत्यन्त आधारभूत एवं अत्यन्त कार्यशील सत्य हैं जो अतिरिक्त जीवन का ओजस्वी रूप में निर्माण कर सकते हैं तथा वाह्य जीवन का हितकारक सुधार कर सकते हैं।" वास्तव में होता यह है कि "जिस ज्ञान को पश्चिम अन्त तक खोजता ही रहा है, पर पा कभी नहीं सका, उसे भारतीय संस्कृति में पाकर वह घवड़ा जाता है।" और हीन संस्कृति का व्यक्ति होने से वह क्षुब्ध होकर भारतीय संस्कृति का ही विरोधी वन जाता है।

तीसरे अध्याय में श्री अरविन्द ने कुछ और अधिक महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार किया है। भारत के पराधीन होने से विदेशियों को उस पर वैचारिक आक्रमण का अवसर मिल गया है किन्तु इस आधार पर भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिकता का मूल्य नहीं आंका जा सकता क्योंकि इनका मूल्य भौतिक सफलता के द्वारा आंकना उचित ही नहीं है। उदाहरणार्थ जव "दार्शनिक, सौन्दर्य-प्रेमी, काव्यप्रिय और वुद्धिमान यूनान" रोम से पराजित हो गया तव भी रोम की सभ्यता या संस्कृति को किसी ने उसकी तुलना में अधिक महान नहीं कहा था। और फिर "आधुनिक युग से पहले किसी भी जाति ने धन-सम्पत्ति, व्यापारिक समृद्धि, भौतिक पद-प्रतिष्ठा तथा सामाजिक संगठन में इससे ऊंचा गौरव नहीं प्राप्त किया।" भारतीय सभ्यता की महानता की परीक्षा उसकी सहस्रों वर्षों की संस्कृति और महानता के द्वारा की जा सकती है न कि केवल कुछ शताब्दियों की अज्ञानता व दुर्वलता के आधार पर।" किसी संस्कृति की परीक्षा तीन कसौटियों पर करनी चाहिए—प्रथम उसकी मूल भावना से, द्वितीय उसकी सर्वोत्तम प्राप्तियों से और अन्ततः उसके अपेक्षाकृत दीर्घ जीवन और उसकी नवीनीकरण की शक्ति से एवं स्वयं को जाति की चिरंतन आवश्यकताओं के नये रूपों के अनुकूल वनाने की शक्ति से।"

आर्चर ने यह आक्षेप किया था कि भारतीय दर्शन जीवन को महत्त्व नहीं देता, प्रकृति का अध्ययन नहीं करता, संसार की उपेक्षा करता है, निराशावादी है, वैराग्यवादी है इत्यादि। श्री अरविन्द ने सप्रमाण इन वातों का खण्डन करते हुए गणित, ज्योतिष, रसायन, चिकित्साशास्त्र आदि में प्राचीन भारत के असाधारण विकास की चर्चा की है। गणित में दशमलव-पद्धति के भारतीय आविष्कार तथा गैलिलियो से सैंकड़ों वर्ष पूर्व भारतीय ज्योतिष का वाक्य 'चला पृथ्वी स्थिरा भाति' (पृथ्वी गतिशील है पर स्थिर लगती है) का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है—"भारतीय मन की एक विलक्षण विशेषता थी जीवन की वस्तुओं की ओर अति ध्यान, इसके प्रमुख तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षण करने की प्रवृत्ति, इसके प्रत्येक

विभाग को क्रमबद्ध करना तथा उसमें एक प्रकार के विज्ञान, एक शास्त्र, सुप्रतिष्ठित योजना व नियम की स्थापना करना।" इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि भारतीय संस्कृति में वैज्ञानिक प्रवृत्ति है और जीवन में उसकी रुचि है। हां, "यह नितान्त सत्य है कि तेरहवीं शताब्दी के लगभग भारतीय विज्ञान की प्रगति एकदम रुक गई" परन्तु इसका कारण भारतीय दर्शन नहीं है क्योंकि "दर्शन का विकास भी लगभग उसी के समान बंद हो गया था।"

बौद्ध धर्म के शून्यवाद और शंकराचार्य के मायावाद को ही भारतीय विचार मानना विदेशी लोगों की भूल रही है। भारतीय जीवन-रचना में जीवन का सम्पूर्ण स्वरूप दृष्टि में रखा गया है—केवल वैराग्य और मुक्ति ही नहीं। चारों मानवीय पुरुषार्थों—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष—की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं—"इनमें से प्रथम है कामना और उपभोग। द्वितीय है मन व शरीर के भौतिक, आर्थिक तथा अन्य उद्देश्य एवं आवश्यकताएं। तृतीय है वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का नैतिक आधार व्यवहार एवं यथार्थ धर्म और अन्तिम है आध्यात्मिक मुक्ति। अर्थात् काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। संस्कृति और सामाजिक संगठन का काम था इन विषयों में मनुष्य का मार्गदर्शन करना, इनकी पूर्ति और पुष्टि करना तथा उद्देश्यों और वाह्य आचारों में किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करना। अत्यन्त विरले व्यक्तियों को छोड़कर शेष सब के लिए मोक्ष से पहले तीन सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति कर लेना आवश्यक था।...पितृऋण, समाज-ऋणऔर देव-ऋण की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। ` सर्वसाधारण को गुहा और तपोवन में भाग जाने का उपदेश नहीं दिया जाता था।"

भारतीय साहित्य और कला की दृष्टि भी केवल मोक्ष या स्वर्ग पर नहीं है। "संस्कृत का विपुल साहित्य मानव-जीवन का ही साहित्य है। यह ठीक है कि कुछ दार्शनिक व धार्मिक कृतियां जीवन के त्याग का प्रतिपादन करती हैं, किन्तु ये भी साधारणतया जीवन के मूल्य की अवज्ञा नहीं करतीं।" इसी कारण भारत में नीति विधि, राजनीति, समाज, कला, शिल्प आदि जीवन से सम्वन्धित सभी विषयों पर गम्भीर व महत्त्वपूर्ण साहित्य विपुल मात्रा में रचा गया। कला भी मन्दिरों में ही बची रही किन्तु प्राचीन साहित्य से सिद्ध है कि कला जातीय जीवन और सांस्कृतिक विचारों की सेवा भी तत्परता से करती रही। "भारत में स्त्रियों और पुरुषों को जो शिक्षा दी जाती थी वह आधुनिक युग से पहले भी अन्य किसी भी शिक्षा-प्रणाली से अधिक समृद्ध, व्यापक और वहुमुखी थी।" निस्सन्देह स्वतंत्र भारत में श्री अरविन्द का यह पुराना कथन और भी अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है कि "अब समय आ गया है जब यह तोता-रटंत कि भारतीय सभ्यता स्वरूपतः अव्यावहारिक, दार्शनिक, निवृत्तिमार्गी और जीवन-विरोधी है, बन्द हो जानी चाहिए और इसके स्थान पर सच्चे और समझदारी के साथ किए गए मूल्यांकन को देना चाहिए।"

यह भी महत्त्वपूर्ण सत्य है कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक संभावनाओं को समस्त मानव-संभावनाओं में सर्वोच्च स्थान देती रही है और चार वर्णों व चार आश्रमों की पद्धतियों से जीवन के विकास को क्रमबद्ध किया गया था। सबसे पहले बौद्ध धर्म ने संन्यास को असाधारण महत्त्व देकर संतुलन और क्रम को बिगाड़ दिया। परन्तु "बौद्ध धर्म का भी एक और पक्ष था जो कर्म और सृजन की ओर अभिमुख था जिसने जीवन को एक नया प्रकाश और नया अर्थ दिया, नयी नैतिक और आदर्श शक्ति दी।" कालान्तर में शंकराचार्य का मायावाद आया। भारतीय मन पर उसका भी गम्भीर प्रभाव पड़ा "किन्तु जनसाधारण के विचार और भाव का पूर्ण रूप से निर्माण इसने कभी नहीं किया। जनता पर तो उन भक्ति-प्रधान धर्मों का ही अधिक घनिष्ठ प्रभाव पड़ा और उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है जो जीवन में··· माया के नहीं वल्कि भगवान की लीला का ही दर्शन करते हैं।"

श्री अरविन्द ने राष्ट्रीय दुर्बलता के काल में भारतीय पुनर्जन्मवाद की परिणति निवृत्ति-मार्गी व 'दैववाद' में होने पर टिप्पणी की है—"परन्तु इसका इस दिशा की ओर मुड़ना आवश्यक तो नहीं है और अपनी संस्कृति के अधिक ओजस्वी अतीत के इतिहास में भी हम देखते हैं कि उस समय इसे जो मोड़ दिया गया था, वह यह नहीं है। स्वर तो वहां कर्म का, तपस्या का, ही है।"

श्री अरविन्द ने भारतीय मन पर निराशावाद के आरोप के प्रत्युत्तर में कहा है कि निराशावाद "सभी उन्नत सभ्यताओं के विचार का अंग रहा है।" जिस संस्कृति ने दीर्घ जीवन पाकर अनुभवों के प्रकाश में सुख और सफलता को निःसार व चार दिन की चान्दनी जैसा पाया हो, वह निराशावादी अवश्य हो जाती है। यूरोप में भी निराशावाद ईसाई मत में ही उपस्थित है। किन्तु भारतीय संस्कृति की विशेषता यह है कि "मनुष्य का सामान्य जीवन जैसा है, उसके विषय में कोई निकृष्ट निराशावाद नहीं रहा है। रही है उसकी अपूर्णता की गहरी अनुभूति, उसकी निःसार अन्धकारमयता, क्षुद्रता और अज्ञानता के प्रति विरक्ति। किन्तु इस मनोभाव के दूसरी ओर मनुष्य की आध्यात्मिक संभावना के विषय में एक अजेय आशावाद भी रहा है।

भारतीय संस्कृति पर वैराग्य-वृत्ति के आक्षेप के उत्तर में श्री अरविन्द ने कहा है—"वैराग्यवाद बिना कोई भी संस्कृति महान एवं पूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि वैराग्य का अर्थ है आत्मत्याग और आत्मविजय जिनके द्वारा मनुष्य अपने निम्न आवेगों का दमन करके अपनी प्रवृत्ति के उत्तम शिखरों की ओर बढ़ता है।" भारतीय वैराग्यवाद में अस्वस्थ कष्ट-साधना की शिक्षा नहीं है अपितु वह तो उच्चतर आनन्द की प्राप्ति के लिए एक उदात्त प्रयत्न है। परन्तु सभी आदर्शों के समान यह आदर्श अतिशयोक्ति और पथभ्रष्टता का शिकार हो गया क्योंकि जब अनधिकारी व्यक्ति वैराग्य-पथ पर चल पड़े तो इसका मूल्य व महत्त्व गिर गया और अनिष्ट

परिणाम हुए। परन्तु फिर भी महत्त्व की बात यह समझना है कि "भारतीय आध्यात्मिकता अपने महत्तम युगों में तथा अपने अंतरतम अर्थ में कोई क्लान्ति-पूर्ण वैराग्य या रूढ़िभूत संन्यास-धर्म नहीं रही है अपितु वह कामना व प्राण-संतुष्टि के ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्थिरता, महत्ता, शक्ति, प्रकाश, भागवत उपलब्धि, दृढ़प्रतिष्ठ शांति और आनन्द की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिए मानव-आत्मा के एक उच्च प्रयास के रूप में रही है।"

चतुर्थ अध्याय में श्री अरविन्द भारतीय अर्थात हिन्दू धर्म पर लगाए गए आर्चर के आक्षेपों का सशक्त उत्तर देते हैं। प्रारम्भ में वे भारतीय दर्शन व भारतीय धर्म के घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं—"भारतीय दर्शन अधिकांश यूरोपीय दर्शन के समान हवा में अनुमान और तर्क-वितर्क करने का कोई कोरा बौद्धिक व्यायाम नहीं है। न वह विचारों और शब्दों का जाल बुनने की कोई अतिसूक्ष्म प्रक्रिया ही है। यह तो भारतीय धर्म की आत्मा, विचार, गतिशील सत्य है, अनुभूति का सार और शक्ति का सुगठित बौद्धिक सिद्धान्त या अन्तर्ज्ञानात्मक व्यवस्थादायी दृष्टि है।"

विश्व के धर्मों में सबसे अधिक सहिष्णु और ग्रहणशील हिन्दू धर्म "अपनी विशिष्ट प्रकृति और जीवन-रचना को खोए बिना यथासंभव समन्वयात्मक, अर्जनशील और समावेशकारी रहा है।" श्री अरविन्द ने पाश्चात्य मन की धर्म के विषय में धारणा का भारतीय मन की धारणा से अन्तर बताते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। यूरोप प्राण-शक्ति और तर्कबुद्धि के द्वारा सर्वोच्च सत्य को प्राप्त करना चाहता है "परन्तु एशिया और कम से कम भारत ऊर्ध्व से आने वाले आध्यात्मिक प्रवाह केसहारे जीता है औरयही भारत की उच्चतर मानसिक और प्राणिक शक्तियों का आध्यात्मिक जागरण करता है।" यदि अपना स्वरूप लिए हुए कुछ विचारकों या धार्मिकता के कुछ क्षणों को छोड़ दें और प्रधान प्रवृत्ति देखें तो तर्क-बुद्धि और जीवन-सिद्धान्त ने ही यूरोपीय सभ्यता को महान उच्च धाराएं दीं, न कि धार्मिक भावना ने। इनको न मानने के कारण, ईसाई कभी भी यूरोप को आध्यात्मिक नहीं बना पाया, भले ही उसमें ईसाईयत भर पाया हो, परन्तु भारत (या एशिया) में न तो तर्क-बुद्धि व जीवन-सिद्धान्त को प्रमुखता ही दी गई और न उनका धार्मिक भावना से ही कोई विरोध था। अतः भारत में सभ्यता व संस्कृति के सर्वोच्च गौरव-काल वे ही हैं।"ये दो महाद्वीप मानव-जाति के पूर्ण वृत्त के दो पार्श्व हैं और जब तक ये घुलमिल कर एक नहीं हो जाते तब तक इनमें से प्रत्येक को अपनी सत्ता के विधान, अपने विशिष्ट स्वधर्म के द्वारा उस विकास या उस चरम उत्कर्ष की ओर बढ़ना होगा जिसे मानव-जाति की आत्मा प्राप्त करना चाहती है। किसी एक पक्ष पर जोर देने वाला जगत अपनी एकरूपता और एक ही संस्कृति की नीरसता के कारण अपेक्षाकृत दरिद्र हो जाएगा•••।"

अब जबकि यह पश्चिमी मन भारतीय धर्म, विचार और साहित्य की अभी तक बची हुई जीवित शक्ति के सम्मुख उपस्थित होता है तो यह देखता है कि उसमें इसके सभी मानदण्डों का या तो निषेध और अतिक्रमण किया गया है, या उनकी अवहेलना कर दी गई है, जिन चीजों का यह मान करता है उन सबको गौण स्थान दिया गया है, जिन चीज़ों का इसने त्याग कर दिया है उन सबका उसमें अभी तक सम्मान किया जाता है। भारत की मनोवृत्ति में परमात्मा ही आदि-मध्य-अंत—सर्वत्न विराजमान है। यहां भगवान, कल्पना या विचार पर आधारित नहीं हैं, साक्षात्कृत सत्य है। पाश्चात्य स्वभाव राजसिक को पसन्द करता है, भारतीय मन सात्विक को। भारतीय धर्म में करोड़ों देवताओं की मान्यता है और फिर भी उनमें निरन्तर संख्या-वृद्धि के लिए भारतीय मन की तैयारी है। सहस्रों प्रकार की पूजा-पद्धतियां आदि देखकर पाश्चात्य मन, जो बौद्धिकता से बोझिल है, अराजकता का अनुभव करता है। किन्तु भारतीय विचार-दर्शन में इन सब बातों का क्या आध्यात्मिक अर्थ होता है, यह उसकी दृष्टि से ओझल रहता है या उसकी समझ से परे होता है। वह नहीं जानता कि "भारतीय पूजा में देवतागण एक ही अनन्त ब्रह्म के शक्तिशाली नाम हैं, दिव्य रूप हैं, गतिशील व्यक्तित्व हैं।" भारतीय धर्म के कर्मकाण्ड में सर्वग्राहकता है और सर्वग्राही हिन्दू धर्म ने "इस्लाम और ईसाईयत को भी स्वीकार कर लिया होता, यदि वे इस प्रक्रिया को सहन कर पाते। भारतीय धर्म को यह ज्ञान है कि जनसाधारण के लिए, न कि केवल कुछ संतों या मनीषियों के लिए, उपयोगी होने वाला धर्म वही हो सकता है जो हमारी पूर्ण सत्ता को, न कि केवल मस्तिष्क को ही संतुष्ट कर सके। हिन्दू धर्म भी मनुष्य को आध्यात्मिक सत्य अर्थात पराज्ञान की ओर ले जाता है और उसमें बुद्धि उपयोगी भी होती है किन्तु उसका अपना मार्ग अन्य अंगों की उपेक्षा नहीं करता। यही नहीं, हिन्दू धर्म व्यक्ति-व्यक्ति की पात्नता का ध्यान रखते हुए, उसे विकसित करता है, उसका आध्यात्मिक रूपान्तरण करता है। किन्तु यूरोपीय व्यक्ति यह सब नहीं समझ पाता। वह तो धर्म को तर्क से ही शुद्ध करने व पवित्न करने की रट लगाए रहता है, आत्मा का मार्ग उसके पास नहीं है। और यूरोप में इस सबका परिणाम क्या हुआ ? अंततः धर्म की ही हत्या हो गई।"

हिन्दू विचार व साहित्य में नैतिकता के आधिक्य से ही यूरोपीय मन को बड़ी परेशानी होती है क्योंकि यूरोपीय कल्पना के अनुसार नैतिकता प्रायः बाह्य आचार से सम्बन्धित है किन्तु भारतीय कल्पना में वह आन्तरिक अधिक है और बाह्य आचार उसकी अभिव्यक्ति का एक प्रकार मात्न है।

पांचवें अध्याय में श्री अरविन्द ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्या भारतीय संस्कृति में पारलौकिक उद्देश्यों के अतिरिक्त इस धरती पर के जीवन के

लिए कुछ उपयोगी तत्त्व हैं क्योंकि वही संस्कृति चिरकाल तक विश्वोपयोगी हो सकती है जिसमें पार्थिव जीवन-मूल्यों की दृष्टि से भी मूल्यवान बहुत कुछ हो, जो विज्ञान और दर्शन को, कला और साहित्य को, शिल्प और स्थापत्य को कुछ दे सके। पाश्चात्य व्यक्ति यह समझता है कि इस विषय में भारतीय संस्कृति व्यर्थ है किन्तु यह ऐतिहासिक सत्य है कि "भारत ने वैभव, गौरव, महानता के साथ जीवन को जिया है, किन्तु यूरोप से भिन्न जीवनेच्छा के साथ।"

किसी संस्कृति का जीवन-मूल्य परखने के लिए श्री अरविन्द उसकी तीन शक्तियों को देखने की आवश्यकता समझते हैं—"प्रथम है जीवन विषयक उसके मौलिक विचार की शक्ति, दूसरी है इसके द्वारा जीवन को प्रदत्त रूपों, प्रकारों तथा सामंजस्य की शक्ति, और अंत में उसके प्रभाव में फलने-फूलने वाले मनुष्यों और समाज के वास्तविक जीवनों में अभिव्यक्त उसके उद्देश्यों के सजीव क्रियान्वयन के लिए प्रेरणा, उत्साह व शक्ति।" यूरोपीय धारणा के अनुसार जड़जगत में अभिव्यक्त एक बल है और संसार में एक जीवन है जिसका एकमात्र अन्वेषणीय अर्थ मानव है। और मनुष्य में जीवन का एकमात्र उद्देश्य है—"बोधदायी व व्यवस्थित करने वाली बुद्धि के कुछ प्रकाश व सामंजस्य की प्राप्ति तथा कुछ कार्यकुशल बौद्धिक शक्ति, प्रसाधक सौन्दर्य, प्रबल उपयोगिता, प्राणिक उपभोग तथा आर्थिक कल्याण की प्राप्ति।" यूरोपीय आदर्श में दो शक्तियों—"वैयक्तिक अहं की स्वतंत्र शक्ति तथा समष्टिगत अहं की संगठित इच्छा-शक्ति"—की महत्ता मान्य है तथा दो वस्तुओं का विशेष महत्त्व है—"व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व का विकास तथा संगठित व दक्ष राष्ट्रीय जीवन।" समय-समय पर उसमें ईसाई मत आदि के कुछ विचार-प्रवाह से आते रहते हैं जो यांत्रिक जीवन-कल्पना से भिन्न हैं किन्तु फिर भी उसकी जीवन-धारणा यही रही है और यह अपूर्ण तो है किन्तु पूर्णतया निरर्थक नहीं है। भारतीय दृष्टि इससे भिन्न है। जीवन-सम्बन्धी भारतीय कल्पना में आत्मा के सत्य की महत्ता है। यहां विश्व की भौतिक नहीं, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक धारणा है। यहां "प्रत्येक बल 'शक्ति' है अर्थात् एक निगूढ़ आत्मा का साधन और विश्व का धारक बल चैतन्य इच्छा (शक्ति) है और प्रकृति इसकी कार्यकारी शक्ति का यंत्र है। जड़तत्त्व अपने अन्दर छिपी हुई चेतना का शरीर या क्षेत्र है, जड़ जगत उस आत्मा का एक रूप और गति है। मनुष्य स्वयं जड़तत्त्व से उत्पन्न जीवन भी नहीं है, मन भी नहीं है और न भौतिक प्रकृति की शाश्वत अधीनता में है अपितु एक आत्मा है जो जीवन व शरीर का प्रयोग करती है।" इस धारणा में विश्वास तथा उस विश्वास के अनुसार जीवन-यापन अर्थात उस विश्वास को जीने का प्रयत्न ही भारतीय संस्कृति का, भारतीय आध्यात्मिकता का अभिप्राय है। इस धारणा में जीवन की उपेक्षा नहीं है अपितु मन, बुद्धि, जीवन इत्यादि सभी 'आत्मार्थम्'—आत्मा के लिए हैं। और इसी कारण मानव-शरीर का महत्त्व कहा गया है, पुराणों

ने उसे देव-दुर्लभ कहा है। मन, बुद्धि और हृदय का सर्वोच्च विकास भारतीय संस्कृति में इसलिए महत्त्व का है क्योंकि उनके सर्वोच्च विकास के पश्चात ही मानव महत्तर प्रकाश धारण करने में सक्षम हो सकता है।

भारतीय धारणा में मानव का महत्त्व भी पाश्चात्य धारणा से कहीं अधिक महान है। वह मुक्त, भगवत् रूप हो सकता है किन्तु इसके लिए सहस्रों जीवनों में क्रमशः विकास की पद्धति का मार्ग स्वीकार करना पड़ता है और इस प्रकार सब प्रकार के मानवों के लिए इस मार्ग में स्थान है। मानवीय विविधताओं, रुचि-भिन्नताओं आदि को भारतीय संस्कृति स्वीकार करती है क्योंकि पूर्णत्व तक पहुंचने के लिए वे सब आवश्यक हैं। इसीलिए भारतीय संस्कृति में 'अर्थ' और 'काम' को भी यथोचित स्थान मिला है, उनकी उपेक्षा नहीं हुई। इसीलिए यहाँ 'धर्म' कोई 'पंथ' नहीं है जैसा पश्चिम में है अपितु जीवन की विविध क्षेत्रों में गतिविधियों का नियामक सत्य नियम है। यह धर्म व्यक्ति-व्यक्ति के लिए पृथक्-पृथक् होता है क्योंकि उसकी योग्यता ही उसका धर्म निर्धारित करती है किन्तु फिर भी कुल मिलाकर (स्थूल रूपरेखा से) यह धर्म वैश्विक है। भारत में सर्वोच्च प्रकार के मानव का— आर्य, श्रेष्ठ, सज्जन, साधु—का निर्माण करने का अर्थ है मानव के विकासशील मन व आत्मा का परम विकास करना और ऐसे व्यक्ति में जिन गुणों—करुणा, प्रेम, धैर्य, वीरता आदि—की आवश्यकता होगी उनको भारतीय साहित्य में अंकित देखा जा सकता है। धर्म, नीति, विश्व, आत्मा, विज्ञान, सौन्दर्य, तर्क, आदर्श इत्यादि सभी दृष्टियों से आदर्श मन व मस्तिष्क तथा जीवन का निर्माण करना ही भारतीय सभ्यता के विकास का आधारभूत विचार रहा है। किन्तु यह सब तैयारी भी अंततः मनुष्य को मुक्त पुरुष बनाने के लिए प्रारंभिक तैयारी मात्र मानी गई थी और दिव्यता, अमरत्व आदि का आदर्श स्पष्ट रूप से सामने रहा है। भारतीय विचार-दर्शन में संस्कृति की तीनों शक्तियां अपने उच्चतम विकसित रूप में जीवन को ढालती थीं—"व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन की सुशासित प्रणाली में सदा ही सर्वप्रथम भारतीय विचार के द्वारा स्वीकृत तीन प्रमुख शक्तियों की व्यवस्था है। उसमें स्वाभाविक कार्य करने की मांग पूर्णतया मानी गई है, वैयक्तिक और सामाजिक हित की खोज तथा मानवी आवश्यकताओं की भांति मानवी कामनाओं की तुष्टि भी पर्याप्त रूप में स्वीकृत है और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ज्ञान और पुरुषार्थ का ज्ञानपूर्वक योग भी है। परन्तु ये सब अवश्य ही धर्म के आदर्श द्वारा नियंत्रित तथा महत्तर लक्ष्यों की ओर उन्नत व विस्तारित हैं।...और उच्चतर अध्यात्म-चेतना की ओर आरोहण को जीवन के परम ध्येय के रूप में सदा-सर्वदा अपनी दृष्टि के सामने रखना आवश्यक है।"

छठे अध्याय में यह निबन्ध समाप्त किया गया है। इसमें वर्ण-व्यवस्था व आश्रम-व्यवस्था के स्वरूप व औचित्य पर प्रकाश डाला गया है और निष्कर्ष रूप

में भारतीय सभ्यता की अपूर्वता; उसकी अधोगति की अवस्था की मीमांसा और उस अवस्था में भी उसमें "भारत की आत्मा को अनुप्राणित एवं समस्वरित करने तथा जीवित रखने के लिए प्राचीन ज्ञान का एक दृढ़ आधार बचा रहना" तथा उससे नवजागरण की प्रेरणा पाकर भारत के पुनरुत्थान का प्रारंभ वर्णित है।

धर्म और आध्यात्मिकता

श्री अरविन्द ने पांच अध्यायों में लिखे गये 'धर्म और आध्यात्मिकता' निबंध में भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य उसकी आध्यात्मिकता में बताया है। भारतीय संस्कृति ने समस्त जीवन को आध्यात्मिक बनाने का प्रयास किया है। सर्वोच्च आध्यात्मिकता तक पहुंचने से पहले इनके निचले आधारों और व्यवस्थाओं को—"सिद्धान्तों,पूजाओं, रूपकों, संकेतों, प्रकारों या प्रतीकों" को—स्वीकारकरकेचलने की आवश्यकता इस संस्कृति ने स्वीकारी है ताकि आत्मा का मन्दिर इन 'मचानों' की सहायता से निर्मित हो सके। केवल मन्दिर के पूरा बन जाने के बाद ही आधारों को हटाया जा सकता है तथा मचान को दूर किया जा सकता है।" श्री अरविन्द हिन्दू धर्म का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—"जिस धार्मिक संस्कृति को हम आज हिन्दू धर्म के नाम से पुकारते हैं उसने इस उद्देश्य को पूरा ही नहीं किया अपितु, कई अन्य साम्प्रदायिक धर्मों के विपरीत, वह संस्कृति अपने उद्देश्य को जानती भी थी। उसने अपना कोई नाम नहीं रखा, क्योंकि उसने स्वयं कोई साम्प्रदायिक सीमा नहीं बांधी; उसने सारे संसार को अपना अनुयायी बनाने का दावा नहीं किया...। आध्यात्मिक आत्मनिर्माण और आत्म-उपलब्धि के लिए एक बहुमुखी और बहु-अवस्था वाली विशाल व्यवस्था होने के कारण उसे अपने विषय में 'सनातन धर्म' के उस एकमात्र नाम से जिसे वह जानती थी, चर्चा करने का कुछ अधिकार था। यदि भारतीय धर्म के इस भाव और भावना का हम समुचित और यथार्थ मूल्य आंक सकें तो ही हम भारतीय संस्कृति के सच्चे भाव और भावना को समझ सकते हैं।" किन्तु इसको न समझ पाने के कारण पाश्चात्य व्यक्ति कहता है कि 'हिन्दू धर्म' नामक कोई भी चीज ही नहीं है, है केवल एक हिन्दू समाज-व्यवस्था जो अपने साथ अत्यन्त भिन्न धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं का गट्ठर लिए हुए है।" बेचारा पाश्चात्य व्यक्ति भारतीय धर्म को समझ ही नहीं पाता क्योंकि वह कटे-छंटे बौद्धिक विश्वास को धर्म की अनिवार्यता मान बैठा है जिसे भारतीय व्यक्ति सबसे कम महत्त्व देता है। वह "मूल से यह मानता है कि बौद्धिक सत्य ही सर्वोच्च सत्य है और यहां तक मानता है कि दूसरा कोई सत्य है ही नहीं।" किन्तु "भारतीय विचारक जानता है कि सभी उच्चतम सनातन सत्य आत्मा के सत्य होते हैं।"

श्री अरविन्द ने बताया है कि भारतीय धर्म ने मानव-जीवन के सामने चार

आवश्यक बातें रखी हैं। पहली यह कि "इसने मन में सत्ता की एक ऐसी उच्चतम चेतना या अवस्था पर विश्वास रखने पर बल दिया जो विश्वव्यापी और विश्वातीत है, जिससे सब कुछ प्रादुर्भूत होता है, जिसमें सब कुछ इसे बिना जाने ही रहता-सहता और चलता-फिरता है और जिसे एक दिन सब अवश्य जान लेंगे जब वे उस वस्तु की ओर मुड़ेंगे जो पूर्ण सनातन और अनन्त है।" दूसरी बात—"इसने व्यष्टि-जीवन के सामने विकास और अनुभव के द्वारा अपने आपको तैयार करने की आवश्यकता रखी जिससे अंत में मनुष्य इस महत्तर सत्ता के सत्य में अभिज्ञतापूर्वक विकसित होने का प्रयत्न करने को तैयार हो जाए।" तीसरी बात—"इसने उसे ज्ञान और आध्यात्मिक या धार्मिक साधना की एक सुप्रतिष्ठित, सुपरीक्षित, बहुशाखाओं से युक्त और चिरविस्तारशील मार्ग प्रदान किया।" और चौथी बात—"जो लोग अभी इन उच्चतर सोपानों के लिए तैयार नहीं हैं, उनके लिए इसने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन की एक व्यवस्था, नैतिक और प्राणिक विकास का एक ढांचा प्रस्तुत किया जिसके द्वारा उनमें से प्रत्येक अपनी सीमाओं में तथा अपनी प्रकृति के अनुसार इस प्रकार प्रगति कर सके कि अन्त में महत्तर जीवन के लिए तैयार हो जाएं।" श्री अरविन्द एक महत्त्वपूर्ण सूत्र बताते हैं—"हिन्दू धर्म का सारमर्म आध्यात्मिक अनुशासन है, सामाजिक अनुशासन नहीं।···हिन्दू धर्म का निर्माण करने वाले इन चारों अंगों के विषय में विभिन्न मतों, सम्प्रदायों, समाजों और जातियों के हिन्दुओं के बीच छोटे-बड़े भेद अवश्य हैं; किन्तु फिर भी भावना, मूलभूत आदर्श और आचार तथा आध्यात्मिक मनोभाव में एक व्यापक एकता भी है जो इस विशाल तरलता के अंदर संयोग की एक अपरिमित शक्ति तथा एकत्व के एक प्रबल सूत्र को उत्पन्न करती है।"

श्री अरविन्द यह अनुभव करते हैं कि "भारतीय दर्शन और धर्म की अन्तहीन विविधता यूरोपीय मन को···निरुपयोगी प्रतीत होती है···वह बाह्य रूपों के बाहुल्य के कारण सर्वसामान्य आध्यात्मिक जीवन को नहीं देख पाता" किन्तु फिर वे यह भी कहते हैं—"परन्तु, विवेकानन्द ने उचित ही कहा था कि स्वयं यह अनन्त विविधता ही एक उत्कृष्ट धार्मिक संस्कृति का लक्षण है।"

१७. धर्म और जातीयता

श्री अरविन्द की 'धर्म और जातीयता' (रिलीजन ऐण्ड नेशनलिज्म) नामक पुस्तक का हिन्दी अनुवाद १९२३ में ही प्रकाशित हो गया था। इस पुस्तक में 'हमारा धर्म', 'गीता का धर्म', 'संन्यास और त्याग', 'माया', 'अहंकार', 'निवृत्ति', 'उपनिषद', 'पुराण', 'प्राकाम्य', 'विश्वरूप दर्शन' और 'स्तवस्तोत्र' शीर्षकों वाले ११ निबन्ध 'धर्म' विषयक हैं। तदनन्तर जातीयता-विषयक ६ निबन्ध हैं—'नवजन्म', 'जातीय उत्थान', 'न्यारे की समस्या', 'स्वाधीनता का अर्थ', 'देश और जातीयता', 'हमारी आशा', 'प्राच्य और पाश्चात्य', 'भ्रातृत्व' तथा 'भारतीय चित्रविद्या'। सभी निबन्धों में सरल भाषा, स्पष्ट विचार तथा गंभीर चिन्तन के कारण सामग्री अत्यन्त सरस हो गई है।

'हमारा धर्म' निबन्ध में श्री अरविन्द ने "हमारा धर्म सनातन धर्म है। यह धर्म त्रिविध, त्रिमार्गगामी और त्रिकर्मरत है" कहकर जिस सूत्र को प्रस्तुत किया है, बाद में उसी की व्याख्या की है। अन्तरात्मा, मानसिक जगत और स्थूल जगत में भगवान से युक्त होने की चेष्टा ही सनातन धर्म का त्रिविधत्व है। ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग से भगवान को पाने का निर्देश करनेके कारण ही सनातन धर्म त्रिमार्गगामी है। और सत्य, प्रेम व शक्ति द्वारा त्रिमार्ग पर चलना ही सनातन धर्म का त्रिकर्म है। श्री अरविन्द व्यक्तिगत धर्म, जाति का धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादि धर्मों के पालन द्वारा ही सनातन धर्म का पालन और विकास होने की बात कहते हैं और साथ ही "क्षुद्र धर्म को महान धर्म में मिलाकर और संशोधन करके" कर्म करने का सन्देश भी देते हैं।

अन्य निबन्धों की कुछ उल्लेखनीय पंक्तियां यहां द्रष्टव्य हैं—"समता, अनासक्ति, कर्मफल त्याग, भगवान में आत्मसमर्पण, निष्काम कर्म, गुणातीतता और स्वधर्म-सेवा ही गीता का मूल तत्त्व या सारांश है।"

(गीता का धर्म)

"जगदीश भगवान के मन्दिर में जाति-विचार नहीं है।"

(गीता का धर्म)

"काल की गति से मनुष्य का जो साधारण स्वभाव गठित होता है, उस स्वभाव

से नियत कर्म युगधर्म है। जाति का कर्म की गति से जो जातीय स्वभाव गठित होता है, उसी स्वभाव से नियत कर्म जातिधर्म है।···ब्रह्मचारी अवस्था में इस धर्म-सेवा के लिए ज्ञान और शक्ति संचित होती है, गृहस्थाश्रम में यह धर्म अनुष्ठित होता है और इस धर्म के सम्पूर्ण अनुष्ठान से वानप्रस्थ या संन्यास में अधिकार की प्राप्ति होती है। यही धर्म की सनातन गति है।"

(संन्यास और त्याग)

"जो ब्रह्मवादी थे, वे वेदान्त-दर्शन के प्रवर्तक और जो प्रकृतिवाद के पक्षपाती थे, वे सांख्य-दर्शन के प्रचारक हुए।"

(माया)

"भक्ति-शून्य तत्त्वज्ञान से अहंकार की वृद्धि होकर मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध होता है और ज्ञान-शून्य भक्ति अंधविश्वास और भ्रमपूर्ण तामसिकता उत्पन्न करती है।"

(माया)

"हां, देशकाल से न्यारे की अवस्था में जगत मिथ्या है अवश्य, किन्तु हम देशकाल से न्यारे नहीं हैं। अतः हम जगत को मिथ्या कहने के अधिकारी कदापि नहीं···अनधिकारी के यह कहने से कि जगत मिथ्या है, मिथ्याचार की वृद्धि और धर्म का पतन ही होता है। हमारे लिए तो ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या कहने की अपेक्षा ब्रह्म को सत्य और जगत को ब्रह्म कहना अधिक उचित और हितकर है। यही उपनिषदों का भी उपदेश है। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' बस इसी सत्य पर आर्य धर्म स्थित है।"

(माया)

"सारा जीवन धर्म-क्षेत्र है और संसार भी धर्म है। केवल आध्यात्मिक ज्ञान की आलोचना और भक्ति का भाव ही धर्म नहीं, कर्म भी धर्म है। हमारे सारे साहित्य में यही उच्च शिक्षा अति प्राचीन काल से सनातन भाव से व्याप्त हो रही है।"

(निवृत्ति)

"कर्मों का त्याग करना अत्यन्त क्षुद्रता है, कामनाओं का त्याग करना ही स्वाभाविक त्याग करना है। शरीर की निवृत्ति निवृत्ति नहीं, बुद्धि की निर्लिप्तता ही स्वाभाविक निवृत्ति है।"

(निवृत्ति)

"उपनिपद क्या है ? जिस अनादि, अनन्त गम्भीरतम ज्ञान में सनातन धर्म आरूढ़ मूल है, उस ज्ञान का भाण्डार ही उपनिषद है।"

(उपनिषद)

"वेद और उपनिषद हिन्दू धर्म के वास्तविक ग्रन्थ हैं और सब पुराण उन ग्रंथों

की व्याख्याएं हैं।…वेदों के आधार पर पुराणों को स्थापित करके पुराणों का उपयोग करना चाहिए।"

(पुराण)

"वस यही शिक्षा आर्य-शिक्षा है। इस शिक्षा में द्वेष और घृणा के लिए स्थान नहीं है। नारायण सर्वत्र हैं। किससे द्वेष करेंगे और किससे घृणा करेंगे?…किन्तु हमारा उत्थान केवल आर्य जाति का उत्थान नहीं, वरन् आर्य-चरित्र, आर्य-शिक्षा और आर्य-धर्म का उत्थान है।…राजनीति धर्म का अंग है किन्तु उसका आर्य भाव और आर्य-धर्म के अनुमोदित उपायों से आचरण करना चाहिए।… जो लोग देश के उद्धार के लिए प्रतिज्ञावद्ध हों और तदर्थ प्राण-समर्पण कर चुके हों, उन लोगों में प्रवल भ्रातृ-भाव, कठोर उद्यम, लोहे के समान दृढ़ता और जलती हुई आग के समान तेज का संचार होना आवश्यक है।"

(जातीय उत्थान)

"स्वदेश-प्रेमी अपने देश की सेवा के भाव में उन्मत्त, सव जगह अपने देश के हित का ध्यान रखता, अपने सव कार्यों को स्वदेश को इष्टदेवता समान यज्ञ-रूप से अर्पण करके देश की भलाई के लिए करता और देश के स्वार्थ को ही अपना स्वार्थ समझता है।"

(न्यारे की समस्या)

"पराधीनता की ख़ास नींव अपने धर्म का नाश और दूसरे के धर्म की सेवा करने से पड़ती है। यदि कोई देश पराधीन अवस्था में अपने धर्म की रक्षा करे या उसे पुनर्जीवित कर सके तो पराधीनता का वन्धन अपने आप टूट जाएगा।"

(स्वाधीनता का अर्थ)

"भाषा के भेद से भी वाधा नहीं पड़ेगी, हम सव लोगों को अपनी-अपनी मातृ-भाषा रखते हुए सर्वसामान्य भाषा के रूप में हिन्दी भाषा को ग्रहण करके उन विघ्नों को नष्ट करना होगा।"

(देश और जातीयता)

"भ्रातृत्व के ऊपर साम्य की स्थापना न करके साम्य के ऊपर भ्रातृत्व की स्थापना करने की चेष्टा करना समाजवादियों की भूल है।…हम सव लोग एक माता की सन्तान और देशभाई हैं, एक तरह से यही भाव भ्रातृत्व की स्थापना है।"

(भ्रातृत्व)

इन सव निवंधों अथवा केवल उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री अरविन्द की अधिक गंभीर कृतियों में इन्हीं विचारों को अधिक ऊंचे स्तर पर विचार और विवेचन का विषय वनाया गया है।

१८. भारत का मस्तिष्क

श्री अरविन्द कृत 'भारत का मस्तिष्क' (दि ब्रेन आफ इण्डिया) सर्वप्रथम 'कर्मयोगी' पत्र में (६ अक्तूबर से १३ नवंबर १६०६ तक) प्रकाशित एक उत्कृष्ट निवन्ध है।

इस निवन्ध में सर्वप्रथम श्री अरविन्द ने राजनीतिक, सामाजिक प्रश्नों से ऊपर उठकर मानसिक क्षितिज को विस्तृत करने का संदेश दिया है। भारत का नेतृत्व करने के कारण वंगाल में मानसिक क्षितिज विस्तार की उपयोगिता बताते हुए उन्होंने वंगाली समाज की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है जैसे "महान आकांक्षाओं को लिए हुए पग, आवेग व कल्पना और मानवता को प्रगति-पथ पर वढ़ाने वाले शक्तिशाली विचार।" तदनन्तर श्री अरविन्द ने वंगाली समाज के कुछ गंभीर दोषों का भी उल्लेख किया है यथा ज्ञान का भारी अभाव। "उसमें शांत तर्कशक्ति का भी अभाव है जो महाराष्ट्रवासियों में अधिक विकसित है। इस तर्कशक्ति के अभाव में ही वंगाली समाज किसी भी रोचक विचार की ओर दौड़ पड़ता है और उसके औचित्य पर गंभीरतापूर्वक व विस्तार से विचार नहीं करता। राष्ट्र में जैसा नया हृदय आवश्यक है, वैसे ही नया मस्तिष्क भी···।" नये मस्तिष्क की भी आवश्यकता है और नया मस्तिष्क ठीक प्रकार से कार्य कर सके इसके लिए पर्याप्त ज्ञान की भी।" और इसके लिए भी आवश्यक है विचार के नये केन्द्र की स्थापना किन्तु "विचार के नये केन्द्र की स्थापना में निहित है शिक्षा के नये केन्द्र की स्थापना।"

श्री अरविन्द भारत में प्रचलित शिक्षा-पद्धति के अनेक दोष वताते हैं। यहां पर एक महत्त्वपूर्ण वात कही गयी है। राष्ट्रीय शिक्षा का प्रारंभ वंगाल में हुआ था जिससे अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति से होने वाली अराष्ट्रीयता को रोका जा सके। किन्तु, राष्ट्रीय शिक्षा की कौंसिल में पुरानी पद्धति से वंधे लोगों की अधिकता ने यह लक्ष्य पूरा नहीं होने दिया। जातीय मनोविज्ञान की उपेक्षा और शरीर व मस्तिष्क को सवल किये विना पाठ्यक्रम को वढ़ा देना भी इस राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति के दोष रहे। साथ ही "भारतीय विचार व संस्कृति की सामग्री को ज्ञान के क्षेत्र में सम्मिलित कर लेने से ही तो शिक्षा-पद्धति भारतीय वन नहीं जाती और वंगाल

नेशनल कालेज में दी गयी शिक्षा न तो भारतीय थी, न राष्ट्रीय; यह तो कुछ सुधरी हुई यूरोपीय पद्धति मात्र थी।" यह प्रतिक्रियात्मक विचार भी ठीक नहीं है कि पुराने ढंग की पाठशालाएं चलाने से शिक्षा-पद्धति राष्ट्रीय हो जाएगी, क्योंकि अठारहवीं शताब्दी के भारत की पुनर्स्थापना हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा लक्ष्य तो प्राचीन और अधिक शक्तिशाली भारत की भावना, आदर्शों व कार्यप्रणालियों को और भी अधिक प्रभावी रूप में तथा अधिक आधुनिक संगठन के द्वारा पुनः जीवित करना है।"

निस्सन्देह रामायण व महाभारत तथा भारतीय दर्शन, कला, स्थापत्य आदि में दिखायी देने वाली महान बौद्धिकता, आध्यात्मिकता और नैतिकता तथा राष्ट्र के शौर्य व अजेय प्राणशक्ति का आधार वह महान साधना थी जिसमें मन व आत्मा का पूर्ण संस्कार मानव-मनोविज्ञान के आधार पर किया जाता था। अब तक 'जानकारी' को शिक्षा का आधार माना जाता है। "ज्ञान देने तक सीमित शिक्षा तो शिक्षा है ही नहीं।" शिक्षा के अन्तर्गत तो स्मरणशक्ति, विवेक, कल्पना, अवलोकन तथा तर्कशक्ति को भी साजने-संवारने की भी आवश्यकता है। परमात्मा की शक्ति को अधिक-से-अधिक मात्रा में धारण करने के लिए एक सुदृढ़ शरीर का निर्माण आवश्यक है और इसके लिए आर्य-पद्धति में बौद्धिक ढांचे को खड़ा करने के लिए आधाररूप में ब्रह्मचर्य साधना की प्रतिष्ठा थी। श्री अरविन्द ने ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्राचीन सिद्धान्त अत्यन्त सुन्दरता से प्रतिपादित किया है। निष्कर्ष रूप में वे कहते हैं—"अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मचर्य से हम जितना अधिक तप, तेज, अविद्युत और ओज का भंडार बढ़ा सकते हैं उतना ही हम स्वयं को शरीर, हृदय, मन और आत्मा के कार्यों के लिए चरम शक्ति से भर लेंगे।"

आर्य-शिक्षा-पद्धति का दूसरा सूत्र यह था कि "सम्पूर्ण ज्ञान मनुष्य में ही है और उसे शिक्षा द्वारा जगाना है न कि बाहर से ठूंसना।" सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण से बनी मानव-बुद्धि में से "तमोगुण को हटाना, रजोगुण को नियंत्रित करना तथा सतोगुण को जगाना, गुरु का प्रमुख कार्य स्वीकारा गया था। गुरु का कार्य था विद्यार्थी को अंदर से आने वाले प्रकाश के प्रति ग्रहणशील बनाना।" तमोगुण को दूर करने के लिए नैतिक पवित्रता की साधना की जाती थी और रजोगुण को नियंत्रित करने के लिए ब्रह्मचर्य की साधना। सात्विकता अर्थात "आन्तरिक प्रकाश को जगाने के लिए आवृत्ति, ध्यान, व चर्चा की त्रिपक्षीय विधि प्रयुक्त होती थी। आवृत्ति का उद्देश्य था मन के अंकन वाले भाग को शब्दों से भर देना जिससे अर्थ स्वयं ही अंदर से उदित हो। यह कहना अनावश्यक है कि रटने मात्र से यह प्रभाव हो ही नहीं सकता था। उसके लिए चाहिए थी वह स्पष्ट व शान्त ग्रहणशीलता तथा मन के चिन्तनशील भाग की शब्द या वस्तु के साथ निरन्तर प्रतीक्षा जो प्राचीन भारतीयों की भाषा में 'ध्यान' था। "सात्विकता का पूर्ण विकास हो

जाने पर तो पुस्तक या गुरु की भी आवश्यकता नहीं रहती थी और ज्ञान पूर्णतया अंदर से ही प्रकट होता था किन्तु "यह तो योगसाधना में सफल होने पर योगी को ही संभव है।"

आर्य-पद्धति में शिक्षा-पद्धति ब्रह्मचर्य पर आधारित होने से "शरीर के आवश्यक कार्यो से बची सम्पूर्ण शक्ति मस्तिष्क की सेवा में रहती थी" जिससे मेधा, धी, स्मृति, सर्जनात्मक बौद्धिक शक्ति इत्यादि का असाधारण विकास संभव होता था जिसके पश्चिमी जगत में कभी-कभी ही उदाहरण मिल पाते हैं। श्री अरविन्द ने यहां एक ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ग्लेडस्टन का, जिन्हें होमर का 'इलियड' कंठाग्र था और इस कारण स्मरणशक्ति के लिए सर्वप्रशंसित थे, उदाहरण देते हुए कहा है—"किन्तु प्राचीन काल के ब्राह्मण को न तो यह असाधारण और न आश्चर्यजनक क्षमता का प्रमाण लगता अपितु क्षुद्र और सीमित क्षमता का ही।" वे आगे कहते हैं —"हार्वर्ट स्पेन्सर आदि के विविध क्षेत्रीय ज्ञान पर यूरोप भले ही आश्चर्यचकित हो ले परन्तु प्राचीन भारत में तो प्रत्येक विद्यार्थी ही साधारणतया विविध क्षेत्रीय पाठ्यक्रम का अध्ययन करता था और यह अध्ययन भी 'आजकल' की योजना जैसा अनेक विषयों का स्पर्श मात्र नहीं होता था अपितु सभी विषयों में गहरी प्रवीणता वाला।"

भारतीय प्रतिभा की इस असाधारण क्षमता का ही यह परिणाम है कि "एक ही कालिदास की प्रत्येक कृति का उत्कृष्टतम होना यूरोपीय मन को इतना अविश्वसनीय लगा कि तीन-तीन कालिदासों की कल्पना कर डाली।" और "बत्तीस वर्ष की आयु में ही दर्शनमें पारंगत होने वाले शंकराचार्य का भी ऐसा ही उदाहरण है। अभी हमारे अपने युग में श्री रामकृष्ण के द्वारा सभी संभव आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव की व्यापक पारंगतता उससे भी बढ़कर है।" किन्तु यूरोप में ऐसे उदाहरण दुर्लभ हैं। अभी वहां बहुमुखी प्रतिभा कहीं मिलती भी है तो "विस्तार की वृद्धि उच्चता में गिरावट के साथ होती है।" ब्रह्मचर्य द्वारा आंतरिक प्रकाश अर्थात सात्विकता के विकास से ही प्राचीन भारत में यह असाधारण क्षमता विकसित हुई थी।" "इस प्रकाश से ज्ञान की प्राप्ति तथा अन्य बौद्धिक कार्य करना सरल, स्वाभाविक, शीघ्र, निश्चयात्मक और तुलनात्मक रूप में शरीर या मस्तिष्क को न थकाने वाली होती है।" इस प्रकार "आर्यों की बौद्धिक उपलब्धियों का रहस्य दो वस्तुओं में ही है। ब्रह्मचर्य और सात्विक विकास ने ही भारत का मस्तिष्क विकसित किया था। इसे योग से पूर्ण किया जाता था।"

१९. बंकिम–तिलक–दयानन्द

श्री अरविन्द कृत 'वंकिम-तिलक-दयानन्द' का प्रकाशन सर्वप्रथम १९४० में हुआ था। इसमें 'वन्देमातरम्' गीत का श्री अरविन्द कृत अंग्रेजी में पद्यानुवाद व गद्यानुवाद तो था ही, 'ऋषि वंकिमचन्द्र', 'वाल गंगाधर तिलक' तथा 'दयानंद' शीर्षक निवन्ध भी थे और अन्त में श्री रमेशचन्द्र दत्त की मृत्यु पर लिखा गया निवन्ध 'दि मेन दैट पास' (दिवंगत व्यक्ति) भी समाविष्ट था।

(१) ऋषि वंकिमचन्द्र

श्री वंकिमचन्द्र के व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए उनके ये सात निवन्ध वड़ौदा-काल में 'इन्दु प्रकाश' में (१६ जुलाई से २७ अगस्त तक) क्रमशः प्रकाशित हुए थे। प्रस्तुत 'ऋषि वंकिमचन्द्र' निवन्ध में जो उन्होंने १६ अप्रैल १९०७ के 'वन्देमातरम्' में लिखा था—वंकिमचन्द्र को 'ऋषि' कहा था तथा 'ऋषि' व 'संत' का अंतर वताया था। ऋषि अपनी अभिव्यक्ति से महान माना जाता है। वंकिमचन्द्र भी इसी आधार पर ऋषि हैं। वंकिमचन्द्र ने राष्ट्र की वड़ी सेवा की। कवि और शैलीकार लेखक के रूप में वे आधुनिक भारत के निर्माता हैं। उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन की व्यर्थता अनुभव कर राष्ट्र-शक्ति के आवाहन का मार्ग निर्दिष्ट किया था—त्याग द्वारा शक्ति पाने का मार्ग, राष्ट्र के लिए सर्वोच्च भक्ति द्वारा शक्ति पाने का मार्ग, आत्मानुशासन व संघ के द्वारा शक्ति पाने का। किन्तु वंकिमचन्द्र की सर्वोच्च सेवा हमें मातृदर्शन कराने की है। "मातृभूमि की मात्र वौद्धिक धारणा प्रेरक वल नहीं हो सकती; स्वतंत्रता की वांछनीयता को पहचान लेना ही प्रेरणात्मक नहीं हो सकता।"

(२) वालगंगाधर तिलक

'स्पीचेज़ ऐण्ड राइटिंग्स आफ तिलक' नामक पुस्तक की भूमिका में १९१८ में लिखा गया उनका निवन्ध ही 'वालगंगाधर तिलक' शीर्षक से प्रसिद्ध है। इस निवन्ध में उन्होंने श्री तिलक के कर्मठ एवं राष्ट्रभक्त व्यक्तित्व की अनेक प्रकार से प्रशंसा की है। तिलक के सम्पूर्ण जीवन में वे राष्ट्र के स्वातंत्र्य-संकल्प को मूर्त होते

देखते हैं—"तर्कों और भाषणों से राष्ट्र को स्वतन्त्रता नहीं मिला करती, किन्तु जहां राष्ट्र के स्वतंत्र होने की इच्छा होती है और जहां राष्ट्र की उस इच्छा को अपने जीवन के प्रत्येक कर्म में मूर्त करने वाला तथा हर कष्ट व पीड़ा सहकर भी उस इच्छा के साक्षात्कार के लिए जीवन लगाने वाला एक व्यक्ति होता है···वहां स्वतन्त्रता आकर रहती है।" श्री अरविन्द ने कहा है कि तिलक का नेता रूप में सम्मान उनकी आर्थिक समृद्धता, सामाजिक स्थिति, उद्योग-धन्धे की सफलता, सरकारी मान्यता, भाषण कला इत्यादि पर आधारित नहीं रहा है क्योंकि यह कुछ भी उनमें नहीं है। उनकी महानता का आधार है उनका जीवन-ध्येय और उस ध्येय को समर्पित उनका जीवन।

श्री अरविन्द ने तिलक के इस विचार की भी सराहना की है कि पराधीन देश को पहले स्वातन्त्र्य चाहिए, सामाजिक सुधार बाद में होंगे ही।

अन्त में उन्होंने तिलक का नाम इतिहासमें राष्ट्र-निर्माता महापुरुषों में अंकित करने की भविष्यवाणी की थी और हम जानते हैं कि वह समयकी कसौटी पर खरी उतरी है।

(३) दयानन्द

श्री अरविन्द ने स्वामी दयानन्द पर दो लेख गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित अंग्रेजी मासिक पत्र 'वैदिक मैगज़ीन' के लिए लिखे थे। इन निबन्धों में स्वामी दयानन्द के प्रति श्री अरविन्द ने अत्यन्त आदरणीय भाव प्रकट किए हैं। उन्होंने स्वामी दयानन्द को भारत के पुनरुद्धारकों में अनुपम तथा निराले ढंग का कार्य-शील महापुरुष कहा है। महादेव गोविन्द रानडे सदृश अन्य महापुरुषों ने राष्ट्र के उत्कर्ष में अमूल्य योग दिया है और उनका प्रभाव भारत की आत्मा में है भी, "परन्तु किसी ठीक-ठीक आकार को लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह है जो इस मनुष्य को अभिप्रेत था, यह कह सकना तो दूर रहा कि यह आकार है जो उस आत्मा का ही ठीक मूर्त रूप है।" किन्तु स्वामी दयानन्द की कार्य-शैली इनकी अपेक्षा भिन्न थी। उन्होंने "वस्तुओं और मनुष्यों पर अपनी आकृति की अमिट तौरपर छाप लगा दी थी मानो पीतल पर मुद्रा अंकित कर दी गई हो।" 'आध्या-त्मिक व्यवहार्यता' से सम्पन्न दयानन्द "वह मनुष्य था जो निश्चित ही और स्पष्ट-स्पष्ट उस कार्य को जानता था जिसे करने के लिए वह भेजा गया था, जिस ने आत्मा की अधिकारपूर्ण दिव्य दृष्टि से देखकर अपनी साधन-सामग्री का चुनाव किया था तथा अपनी स्थिति को निर्धारित किया था। और फिर अपने परिकल्पित विचार को एक जन्मसिद्ध कार्यकर्ता की शक्तिपूर्ण सिद्धहस्तता के साथ कार्यरूप में परिणत किया था।"

श्री अरविन्द स्वामी दयानन्द को एक योद्धा के रूप में देखते हैं जो पृथ्वी पर

परमेश्वर का संदेश देने के लिए निर्भय होकर बाधाओं से टकराता है और विजय पर विजय प्राप्त करता है—"जब मैं परमेश्वर के कारखाने के इस दुर्दम कारीगर की मूर्ति का ध्यान करता हूं तो मेरे सामने झुंड के झुंड चित्र आने लगते हैं जो सभी चित्र संघर्ष के, कार्य के, विजय के, विजयी परिश्रम के चित्र हैं। तब मैं स्वयं से कहता हूं कि यह है दिव्य प्रकाश का सैनिक, परमेश्वर के जगत का योद्धा, मनुष्यों और संस्थाओं का बनाने वाला शिल्पकार और आत्मा के सम्मुख प्रकृति जो कठिनाइयां उपस्थित करती है, उनका निर्भीक और अदम्य विजेता।"

स्वामी दयानन्द ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने "राष्ट्रीय चरित्र में प्राचीन आर्य तत्त्व की फिर से स्थापना की थी।" स्वामी दयानन्द ने "जो कुछ भी बाहर से ग्रहण किया, उसे आत्मसात कर राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुरूप उपयुक्त रूपों में प्रकट किया। यह जो आत्मनिर्धारण का गुण है, अवसरवादिता से ठीक भिन्न, वही उनके लड़ाकापन और आक्रामकपन का मूल कारण था।" श्री अरविन्द के अनुसार स्वामी दयानन्द ने भारतीयों को पुकार-पुकार कर यही कहा था—"हे भारतीयो! केवल असीम भाव में रहने तथा अनिश्चित भाव से बढ़ने से संतुष्ट मत हो। अपितु यह देखो कि परमेश्वर तुम्हें क्या बनाना चाहते हों। उनकी प्रेरणा के प्रकाश में निर्धारित करो कि तुम्हें आगे क्या बनना है। उसे देखते हुए उसके अनुसार स्वयं को गढ़ो। जीवन में से गढ़कर उसे तैयार करो। विचारक बनो, परन्तु साथ ही करने वाले भी बनो।"

श्री अरविन्द पर स्वामी दयानन्द की 'आध्यात्मिक व्यवहार्यता' ने गहरी छाप छोड़ी थी। "दयानन्द के जीवन में हमेशा इस आध्यात्मिक व्यवहार्यता का शक्तिशाली प्रवाह दिखाई देता है। सर्वत्र उनके नाम पर एक स्वतःस्फूर्त शक्ति और निश्चयात्मकता की छाप है।"

श्री अरविन्द ने स्वामी दयानन्द की व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि की प्रशंसा की है जिससे "उन्होंने वेद की इस वास्तविक श्रेष्ठता को पहचाना कि यह वह धर्म-पुस्तक है जिसमें इस देश और राष्ट्र के निर्माता पूर्वजों की गहरी और प्रबल भावना छिपी हुई है। वह धर्म-पुस्तक जो दिव्यज्ञान दिव्यपूजा और दिव्यकर्म की चर्चा से ओत-प्रोत है।" राजा राममोहनराय की दृष्टि उपनिषदों पर ही रुक गयी थी पर स्वामी दयानन्द मूलभूत बीज रूप वेद तक पहुंचे। "उनके अन्दर राष्ट्रीय सहजज्ञान की शक्ति थी" और इसे उन्होंने राष्ट्रीय अन्तर्दृष्टि की शक्ति में रूपान्तरित कर लिया था और "इसलिए उन रचनाओं को जो उसमें निकली हैं, चाहे वे प्रचलित परम्पराओं के कितनी ही विरुद्ध हों, अवश्य ही गहरे रूप में राष्ट्रीय होना चाहिए।" इस प्रकार स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीयता के इस मूल आधार का उद्घाटन श्री अरविन्द ने ही किया था। राष्ट्रीय होने का अभिप्राय है अतीत की भावना से वर्तमान में जीवन संचारित करना और स्वामी दयानंद ने वेदों को इसी रूप में ग्रहण किया

था—"और देखो, जैसे जीवन में वैसे ही अपने कार्य में उसने इस अतीत को ग्रहण किया है, जो निर्मल शक्ति के प्रथम प्रवाह के रूप में है, अपने आदि-स्रोतों से सीधा आने के कारण पवित्र है, अपने मूलभूत नियम और इस कारण किसी शाश्वत और सदा नवीन किए जा सकने योग्य तत्त्व के समीप है।"

स्वामी दयानंद में आर्यत्व था अर्थात "एक आन्तर निष्कपटता और दृढ़ सत्यहृदयता, स्पष्टता और वाणी तथा कार्य में स्फुट उदात्तता।" स्वामी दयानंद ने इस कठिन सत्य-व्रत का पालन किया क्योंकि वे वैदिक शिक्षा को जीवन में उतार चुके थे और "यही उनके सच्चे ईश्वर-पुत्र होने का प्रमाण है। यही वह छाप थी जिसे दयानन्द अपने पीछे छोड़ गए और यही उनका अपना चिह्न और प्रतिमा होनी चाहिए जिसके द्वारा कोई कार्य 'उनके द्वारा प्रवर्तित है' इस रूप में पहचाना जा सके।"

आचार्य सायण के अनुगामियों अथवा यूरोपीय विचारकों में से कुछ का कथन है कि स्वामी दयानन्द ने वेद का अर्थ कल्पना से और मनमानेपन से किया है। श्री अरविन्द ने इस आरोप का बड़ी कुशलता से खण्डन किया है। वे आचार्य सायण कृत वेद-भाष्य को मनमानी कल्पना के दोष से युक्त दिखाते हैं और यूरोपियों की सारी वेद-व्याख्याओं को अपने पूर्वाग्रहयुक्त विचारों के प्रतिपादनार्थ कपोल-कल्पित मात्र बताते हैं, भले ही उनमें पांडित्य और परिश्रम हो। श्री अरविन्द के अनुसार स्वामी दयानन्द ने जो वेद-भाष्य किया है, वह सफल है क्योंकि उसमें वेद प्रतिपादित धर्म का केन्द्रीय विचार सुरक्षित है और वेद की अन्तःसाक्षी उसे पुष्ट करती है। और "यहां दयानन्द का दृष्टिकोण स्पष्ट है, उसका आधार सुदृढ़ है, अखण्डनीय है।"

स्वामी दयानन्द का यह आधारभूत विचार कि "वेद की ऋचाओं में एक ही परम देवता के गीत गाए गए हैं—अनेक नामों के द्वारा जो इसी अभिप्राय व उद्देश्य से विचारपूर्वक प्रयुक्त हुए हैं कि उस एक द्वेष के भिन्न-भिन्न गुणों तथा शक्तियों का वर्णन करें" स्वयं वेद के 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' मंत्र से ही सिद्ध है। और जब स्वामी दयानन्द की यह बात प्रमाणित हो जाती है "तब तत्काल वेद का सारा ही स्वरूप उस अर्थ में निश्चित हो जाता है जो अर्थ दयानन्द ने वेद को दिया है। केवल कर्मकाण्डपरक, गाथावादी और बहुदेवतात्मक सायण की व्याख्या ढह जाती है, केवल अन्तरिक्ष-विद्यापरक और प्रकृतिवादी यूरोपीय व्याख्या भी ढह जाती है। उसके स्थान पर हमें वास्तविक ईश्वरीय शास्त्र मिल जाता है······।"

और फिर स्वामी दयानन्द के वेद-विषयक अन्य विचार तो "इसी आधारभूत विचार का तर्कसम्मत परिणाम हैं।" स्वामी दयानन्द ने वेद में नैतिक व आधार सम्बन्धी तत्त्वों का, सृष्टि-रचना के रहस्य का तथा विश्वव्यापी प्राकृतिक नियम

का उद्घाटन किया है। पर स्वामी दयानन्द ने आधुनिक विज्ञान के सत्यों को वैदिक मन्त्रों में पहले से प्राप्य दरशाया है। इस पर जो संदेह किया जाता है उस विषय पर श्री अरविन्द ने अपनी सम्मति इस प्रकार दी है—

"......मैं इस विषय में अपनी कोई निश्चित सम्मति प्रस्तुत न कर सकूंगा। परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि प्राचीन संसार के विषय में आधुनिक ज्ञान की प्रगति दयानन्द के विचार को उत्तरोत्तर पुष्ट कर रही है। पुरातन सभ्यताओं में अवश्य अनेक वैज्ञानिक रहस्य थे जिनमें से अनेक को आधुनिक विद्या ने पुन: पाया है तथा विस्तृत, अधिक सम्पन्न एवं सम्यक् रूप से व्यक्त किया है परन्तु अन्य रहस्य अब भी उसने नहीं पाए हैं।" और इस प्रकार वेदों में वैज्ञानिक सत्य तो निहित है ही, यह कोई स्वामी दयानन्द की कल्पना मात्र नहीं है। किन्तु श्री अरविन्द एक और महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—"......मेरा विश्वास तो यह है कि वेदों में एक दिव्य विज्ञान के अन्य सत्य भी हैं जो वर्तमान संसार के पास बिलकुल नहीं हैं। और तब तो दयानन्द ने वैदिक विद्या की गंभीरता एवं विस्तार के विषय में अधिक नहीं अपितु कुछ कम ही वर्णन किया है।"

श्री अरविन्द का विश्वास है कि वेद की अंतिम पूर्ण व्याख्या कोई भी हो, स्वामी दयानन्द को "वेद के सत्य सूत्रों के प्रथम आविष्कर्ता के रूप में सदा आदर मिलेगा।" स्वामी दयानन्द की प्रत्यक्षदर्शी दृष्टि ने युगों के अंधकार को चीरकर सत्य का प्रत्यक्ष प्रकाश प्राप्त करने का महान कार्य किया था और इस प्रकार "उन्होंने उन द्वारों की कुंजी प्राप्त कर ली जिन्हें काल ने बन्द कर रखा था और रुके पड़े निर्झरों के मुख पर से उन्हें बन्द करने वाली सील मोहर तोड़ फेंकी।"

२०. भारत में पुनर्जागरण

श्री अरविन्द द्वारा लिखित चार निबन्ध, जो अगस्त से नवम्बर (१९१८ तक चार अंकों में) 'आर्य' में प्रकाशित हुए थे, पुस्तकाकार 'भारत में पुनर्जागरण' (दि रिनेसां इन इण्डिया) शीर्षक से १९२० में सर्वप्रथम प्रकाश में आए थे। इसमें श्री अरविन्द ने आधुनिक काल के (१९वीं शताब्दी से प्रारम्भ) भारतीय पुनर्जागरण के विश्लेषण व मूल्यांकन का एक सुन्दर प्रयास किया है। भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में इस पुनर्जागरण की महान भूमिका रही है। इस पुनर्जागरण को यूरोप के पुनर्जागरण के समान देखा जाए या आयरलैंड के पुनर्जागरण के समान? श्री अरविंद के अनुसार ईसाई व सामन्ती यूरोप पर यूनानी व रोमन चेतना का, जिसमें बौद्धिकता और जिज्ञासा का प्राधान्य था, छा जाना ही यरोपीय पुनर्जागरण कहलाया था। किन्तु भारत के पुनर्जागरण में सर्वथा नवीन तत्त्व को स्वीकार करने वाली कोई वात नहीं हुई। दूसरी ओर आयरलैंड में अपनी ही केल्टिक भावना व संस्कृति को पुनः पाने के लिए आवरण जैसे अंग्रेजी प्रभावों को दूर करना ही पुनर्जागरण कहलाया। निस्सन्देह भारत में भी कुछ ऐसी ही वात हुई है, यद्यपि पूर्णतया ऐसी भी नहीं। उन्नीसवीं शती का भारतीय पुनर्जागरण वस्तुतः भारत की प्राचीन भावना और आत्मा का पुनः जाग्रत होना ही था। किन्तु भारत की यह प्राचीन भावना और आत्मा कही जाने वाली वस्तु क्या है?

भारतीय मन की तत्त्वदर्शन, धर्म व परलोकवाद में अधिक रुचि देखकर पाश्चात्यों को सर्वप्रथम तो यही लगा कि भारत की आत्मा यही है—"एक अमूर्त, तात्त्विक, धार्मिक मन जिस पर अनन्त का विचार छाया है, जो जीवन में प्रवृत्तिशील नहीं है, जो स्वप्नद्रष्टा, अव्यावहारिक तथा जीवन व कार्य को माया समझकर उनसे विमुख होने वाला है। इसी को उन्होंने "भारत कहा, और कुछ समय तक भारतीयों ने इस विषय में भी, जैसे और विषयों में, विनम्रतापूर्वक अपने नए पाश्चात्य गुरुओं और स्वामियों की वातों को ही दोहराया। वे अपने तत्त्वदर्शन, अपने साहित्य, अपने धर्म के विषय में तो अभिमानपूर्वक वोलते थे किन्तु अन्य सव विषयों में वे विद्यार्थी और नक़लची वनने मेंही संतुष्ट वे।" किंतु कालान्तर में स्वयं यूरोपियों को ही भारतीय कला ने आकृष्ट किया और भारतीयों को भी अतीत के

अध्ययन से स्पष्ट लगने लगा कि स्वयं को पार्थिव जीवन के अयोग्य समझने की वात निरी भूल थी।

ऐसी भूल यूरोप ने कभी जर्मनी के विपय में भी की थी। जर्मनी ने दर्शन, संगीत इत्यादि में विशेप उन्नति की थी किन्तु भौतिक जीवन में सुविकसित नहीं हो सका था और इस कारण उसे पार्थिव जीवन के अयोग्य मानकर "प्रशंसनीय, हास्यास्पद जर्मनी" कहा गया था किंतु वाद में यूरोप ने अपनी त्रुटि समझ ली थी। श्री अरविन्द के अनुसार भारतीय पुनर्जागरण पूर्ण होने पर "भारतीय चेतना की यथार्थ प्रकृति और क्षमता" के विपय में यूरोपीय भ्रम दूर हो जाएगा। भारतीय मन के विपय में सही धारणा यह है कि "आध्यात्मिकता वस्तुत: ही भारतीय मन की कुंजी है; अनन्त की अनुभूति सदैव ही उसके लिए जन्मजात है।··· भारत ने प्रारम्भ से ही देखा है···कि जीवन को केवल उसके वाह्यरूपों की शक्ति मात्र में नहीं देखा जा सकता। वह भौतिक नियमों व वलों की महत्ता के प्रति जागरूक था; भौतिक विज्ञानों के महत्त्व के लिए उसकी दृष्टि पैनी थी, सामान्य जीवन की कलाओं को संगठित करना उसे ज्ञात था। किन्तु उसने देखा कि भौतिक को अपना पूर्ण अर्थ तव तक प्राप्त नहीं होता जव तक वह पराभौतिक से सत्य सम्वन्ध में स्थित नहीं होता। उसने देखा कि···मनुष्य अपने स्वरूप के केवल एक छोटे से अंश से ही अभिज्ञ है, कि सदैव ही अदृश्य, दृश्य को और अतीन्द्रिय, ऐन्द्रिय को वैसे ही आवृत्त किए रहता है जैसे अनन्त सर्वदा सान्त को आवृत्त किए रहता है।···उसने देखा कि हमारे जीवन के परे जीवन-श्रेणियां हैं, हमारे वर्तमान मन के परे मानस-श्रेणियां हैं और इन सवके ऊपर उसने आत्मा की महिमाओं को देखा।" इस सम्पूर्ण अनुभव के पश्चात् भारतवर्प ने "अपनी अन्त: प्रज्ञा की शांत साहसिकता से—जिसको न कभी भय लगा, न क्षुद्रत्व का अनुभव हुआ और जो किसी भी कार्य को करने में झिझकी नहीं चाहे वह आध्यात्मिक साहस का हो या वौद्धिक या नैतिक या प्राणिक साहस का—उसने घोपणा की कि इन वस्तुओं में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे मनुष्य प्राप्त न कर सके यदि वह अपनी इच्छा और ज्ञान को प्रशिक्षित कर ले; वह मन की इन श्रेणियों को जीत सकता है, आत्मा वन सकता है, देवता वन सकता है, भगवान वन सकता है, अनिर्वचनीय व्रह्म वन सकता है।" और भारतवर्प ने वैसी उपलव्धियों के लिए मार्ग भी खोज निकाला। यह है भारत की आध्यात्मिकता का स्वरूप किन्तु यही भारत नहीं है। जैसे शिखरों के लिए पृथ्वी का आधार चाहिए, वैसे ही आध्यात्मिकता के लिए पार्थिव जीवन आधारभूत है, यह वात भारतवर्ष को ज्ञात रही है। इसी कारण सहस्रों वर्षों के जीवन में भारतवर्ष ने सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट सक्रियता दिखाई है। राज्यों, साम्राज्यों, गणतंत्रों इत्यादि की विविधता भी यहां प्रकटी। कला-कौशल, वाणिज्य, राजनीतिक पद्धतियों, धर्म-संघों, कर्मकांडों, भौतिक विज्ञानों इत्यादि का

यहां अनुपम विकास हुआ। अपनी सीमा से बाहर जाकर भी भारत की नौकाओं और यात्रियों ने विश्व का कोना-कोना देख लिया। प्राचीन भारत में सब ओर भारतीय जीवन-शक्ति की बाढ़ दिखाई देती है। जीवन में वैभव, सुख, तथा विविध प्रकार की सक्रियता से परिपूर्ण और आध्यात्मिक भारत की तीसरी विशेषता उसकी उस सशक्त बौद्धिकता में मिलती है जो "तपस्वी और समृद्ध, संतुलित और सूक्ष्म, सशक्त और कोमल, सिद्धांत में विशाल तथा विवरण में सूक्ष्म" है। उसने पहले आत्मा का अन्वेषण किया, फिर धर्म का और अन्ततः शास्त्र का और निस्सन्देह भारत "धर्म और शास्त्र की भूमि है।" भारतीय मेधा ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए शास्त्रों की रचना की। अपनी "सर्वग्राही, समृद्ध, सूक्ष्म और पूर्ण" बौद्धिकता से भारतद्वारा जीवन का कोना-कोना देखा गया और जीवन द्वारा जीवन को सम्पूर्णतया जानने का प्रयास किया गया। "इस प्रकार प्राचीन भारतीय संस्कृति के सामंजस्य की रचना करने वाले तत्त्व थे अन्तर्भूत तथा प्रधान आध्यात्मिकता, अक्षय प्राणीय रचनात्मकता तथा जीवन-वेग और उन दोनों में मध्यस्थता करती सशक्त, मर्मभेदी और सावधान बुद्धि जो बौद्धिक मन, नैतिक मन तथा सौन्दर्य-बोधीमन—जिनमें से प्रत्येक क्रिया की उच्च तीव्रता से युक्त—का संयुक्त रूप थी।"

श्री अरविन्द कहते हैं कि समृद्ध प्राणशक्ति और समृद्ध बौद्धिकता के कारण ही आध्यात्मिक भारत की महान उपलब्धियां संभव हो सकीं। दीन-हीन जीवन में आध्यात्मिकता का उत्कृष्ट विकास नहीं हो सकता। बौद्धिकता को कुचलकर भी आध्यात्मिकता का यथार्थ विकास संभव नहीं है। "जब जाति परम वैभव के साथ जीवन-यापन और अत्यन्त गहराई से चिन्तन कर चुकती है तभी आध्यात्मिकता को अपनी ऊंचाइयों, गहराइयों और अपनी बहुमुखी सिद्धियां प्राप्त होती हैं।" भारत ने ज्ञान के जिस क्षेत्र में भी झांका, पराकाष्ठा तक जाकर देखा। उसने आध्यात्मिक नास्तिकता की भी पराकाष्ठा कर दी जैसे बौद्ध मत में। भारत ने भौतिकवादी नास्तिकता को भी बौद्धिक उत्सुकता के कारण और अपनी साहसी प्रवृत्ति के अनुसार "साहस से और नग्नरूप में, आदर्शवाद या नैतिकता के लिए तनिक भी छूट न देते हुए" निरूपित किया।

श्री अरविन्द ने बताया है कि भारत ने अपनी आध्यात्मिकता के कारण ऐन्द्रिक जीवन और भौतिक सुखों को विस्तारपूर्वक देखने में संकोच नहीं किया। किन्तु इन दोनों विरोधी अनुभवों के कारण विचारों में कभी अन्तर्विरोध या अव्यवस्था नहीं पनप सकी क्योंकि "भारतीय मन न केवल आध्यात्मिक व नैतिक है अपितु बौद्धिक व कलात्मक भी और बुद्धि का नियम तथा सौन्दर्य की लयात्मकता, अराजकता की भावना के शत्रु हैं।" यहां पर श्री अरविन्द एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—"प्रत्येक पराकाष्ठा पर पहुंचकर भारतीय भावना उस पराकाष्ठा में एक

सिद्धान्त की खोज करती है और उसके प्रयोग में एक नियम, मर्यादा व संरचना की।" साथ ही, भारत की संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति भी उसका एक अनुपम वैशिष्ट्य है जिससे वह ज्ञान की किसी भी दिशा में पराकाष्ठा पर पहुंचकर अपने द्वारा प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञान को संश्लिष्ट करता है और उसके द्वारा "कर्म व संस्था में सामंजस्य और संतुलन" की प्राप्ति करता है। "यूनानी लोग जिन संतुलन और लयात्मकता तक आत्म-नियन्त्रण द्वारा पहुंचे थे, उन्हीं पर भारत अपने बौद्धिक, नैतिक व सौन्दर्यपरक व्यवस्था की भावना से तथा मानव-जीवन की संश्लेषणात्मक प्रेरणा से पहुंचा।"

अतः भारत को आध्यात्मिक कहने पर यह समझना भूल है कि भारत की आध्यात्मिकता केवल उत्कृष्ट तत्त्वदर्शनों और धर्मों में ही अभिव्यक्त हो सकती है, सक्रिय जीवन के विरोध-क्षेत्रों में नहीं। श्री अरविन्द के अनुसार भारतवर्ष का पहला लम्बा युग आध्यात्मिक युग था जिसमें जीवन के सत्य को खोजा गया और जिसकी छाप भारतीय जीवन पर अमिट है। किन्तु "उसकी महानता का लम्बा दूसरा युग आध्यात्मिक सत्य के प्रकाश में जीवन को सूत्रबद्ध व शासित करने के लिए बुद्धि, नैतिक भावना और गतिशील इच्छा की कर्मशीलता का युग था।" वेदों और उपनिषदों के पश्चात् का यह युग विज्ञान, कला, राजनीति, समाजशास्त्र इत्यादि सांसारिक जीवन के सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट विकास करता हुआ आया। किन्तु आध्यात्मिकता का कभी विस्मरण नहीं किया गया। पुराणों व तंत्रों में तथा भक्ति-सम्प्रदायों में शास्त्र-युग की यह विशेषता देखी जा सकती है। वैष्णव धर्म के साथ यह युग पूर्ण हो गया।

अब पतन का काल आरम्भ हुआ जिसमें तीन बातें हुई—जीवन में वैभव-प्राप्ति तथा रचनात्मकता की भावना का मन्द हो जाना, प्राचीन स्वतंत्र बौद्धिक सक्रियता का शिथिल हो जाना तथा आध्यात्मिकता की ज्वाला का हल्का हो जाना। इस युग में भौतिक जीवन की उपेक्षा होने लगी। स्वतंत्र बौद्धिक चिन्तन का स्थान अनुकरण और टीका ने ले लिया। आध्यात्मिक संश्लेषण क्षमता प्रायः समाप्त हो गई। कुछ सत्यों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाने लगा और शेष सत्यों की उपेक्षा हो गयी। भारतीय संस्कृति यहीं पर अंशतः मार्ग भटक गई। आधारभूत सत्य तो भारत को अभी भी ज्ञात रहे परन्तु संभ्रम बहुत हो गया।

और ऐसे ही क्षण में भारतवर्ष पर यूरोपीय लहर ने आघात किया। यूरोपीय लहर सारे भारत पर छा गई और बहुत कुछ नष्ट हो गया जो नष्ट होने योग्य था किन्तु उस समय जो नई कर्मशीलता आई वह तो पाश्चात्यों का अनुकरण मात्र थी। यदि भारत की अपनी प्राणशक्ति कम रही होती तो भारत इस अवसर पर नष्ट हो गया होता। किन्तु भारत में जीवन-शक्ति बहुत थी, केवल सुप्त थी। अतः

धीरे-धीरे भारत ने स्वयं ही इस परानुकरण-प्रवृत्ति के काल में उत्पन्न दोषों को ठीक करना प्रारम्भ किया। यूरोपीय जीवन व संस्कृति के आघात के परिणाम-स्वरूप भारत को तीन आवेगों की प्राप्ति हुई—"इसने प्रसुप्त बौद्धिक व आलोचनात्मक आवेग को जाग्रत किया; इसने जीवन को पुनः प्रतिष्ठित किया और नव-रचना की इच्छा जगाई; इसने पुनः जागृति देने वाली भारतीय चेतना को नवीन परिस्थितियों और आदर्शों के सामने ला खड़ा किया और उन्हें समझने, समाविष्ट करने तथा जीतने की शीघ्र आवश्यकता प्रस्तुत की।" इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय मन ने अपनी संस्कृति को पहचाना और उसे अतीत के संदर्भ में नहीं, आधुनिक ज्ञान और विचारों के संदर्भ में देखने का प्रयास किया। श्री अरविन्द कहते हैं कि "इसी जाग्रत होती दृष्टि व प्रेरणा में से भारतीय पुनर्जागरण का उदय हो रहा है और वही इसकी भावी प्रवृत्ति को निर्धारित करेगा।"

भारतीय पुनर्जागरण के तीन महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर श्री अरविन्द स्पष्ट निर्देश करते हैं। इनमें से सर्वप्रथम कार्य है प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान व अनुभव को पूर्णतया प्राप्त करना। द्वितीय है इस आध्यात्मिकता से जीवन के सभी क्षेत्रों के ज्ञानों को परिपूर्ण कर देना, चाहे वह दर्शन हो या साहित्य, विज्ञान हो या कला, साहित्य हो या समीक्षा। और तृतीय है भारतीय भावना के प्रकाश में आधुनिक समस्याओं का समाधान निकालना तथा आध्यात्मिक समाज के लिए महत्तर संश्लेषण करना। "इन तीन दिशाओं में इसकी सफलता ही मानवता के भविष्य को इसकी सहायता का माप होगा।"

भारत की विधि यूरोप के समान जीवन को सर्वोपरि महत्त्व देने की नहीं है। उसकी दृष्टि में आत्मा सर्वोपरि है और आत्मा की शक्ति में जीवन की शक्ति को वढाने की विधि उसकी कार्य-पद्धति है। बुद्धि, इच्छा इत्यादि का यूरोप जैसा सामान्य विकास करने के पश्चात भारत उन्हें "अपनी उच्चतम अन्तः प्रज्ञाओं के महत्तर प्रकाश व शक्ति की ओर उन्मुख करना भी जानता है।" भारतीय पुनर्जागरण का कार्य होना चाहिए इस आत्मा को, जीवन की उच्चतर दृष्टि को, गंभीरतर शक्तिमत्ता की इस भावना को, संसार में एक वार सक्रिय और प्रधान शक्ति वना देना।"

श्री अरविन्द वताते हैं कि इस पुनर्जागरण तक की प्रक्रिया के तीन भाग रहे हैं। प्रथम है—यूरोपीय सम्पर्क के अन्तर्गत प्राचीन संस्कृति के सिद्धान्तों को ही अस्वीकार करना। द्वितीय है भारतीय चेतना की यूरोपीय प्रभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया। इसमें यूरोपीय प्रभाव को पूर्णतया उपेक्षा तथा प्राचीन भारत की पूर्ण स्वीकृति की प्रधानता रही। और तृतीय है भारतीय चेतना द्वारा नवीन रचना जिसमें भारतीय मन की सर्वोच्चता रखते हुए, प्राचीन और आधुनिक, तथा प्राच्य एवं पाश्चात्य के सम्यक् अध्ययनपूर्वक अपने सत्यों को युगानुकूल तथा पश्चिम

द्वारा दिये गये सत्यों को देशानुकूल बनाकर ग्रहण करना। यह प्रक्रिया अभी आरंभ ही हुई है। "पाश्चात्यों के किसी आधुनिक विचार व रूप को उपयोगिता या अनिवार्यता के कारण ग्रहण करते हुए भारतीय चेतना उसे इस प्रकार रूपान्तरित करती है तथा इस प्रकार उसका भारतीयकरण करती है कि उसका विदेशी स्वरूप अदृश्य हो जाता है।" "पाश्चात्य आधुनिकता का केवल एशियाई संस्करण प्रस्तुत करना" इस पुनर्जागरण का लक्ष्य नहीं है।

श्री अरविन्द बताते हैं कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से जो भारतीय सर्वप्रथम जागरण के अग्रदूत बने उनका विचार इससे भिन्न था। वे प्राचीन भारतीय संस्कृति को ठीक नहीं समझ पाए थे और इसीलिए वे भारत को पूर्णतया 'आधुनिक पश्चिम' बनाने की कल्पना करते थे। इंग्लैंड उनका हर दृष्टि से आदर्श था। वे महान बौद्धिक व्यक्ति थे और एक तर्क-सम्मत धर्म की स्थापना करना चाहते थे। उनके प्रयत्नों से भारत में स्वतंत्र चिंतन का युग पुन: प्रारम्भ हुआ, प्राचीन संस्कृति में नए विचारों का मानो खमीर दिया गया और अपने अतीत के सभी कुछ पर नयी दृष्टि डाली गई जिससे उस प्राचीन भावना व चेतना को कुछ मात्रा में ग्रहण किया जा सका।

प्रतिक्रिया के काल में अंग्रेजीकरण का हठपूर्ण वातावरण बहुत कुछ समाप्त हो गया और प्राचीन भारत के विषय में अवहेलना व तिरस्कार का स्वर समाप्त हो गया और एक प्रकार का संतुलन-सा आने लगा। और, केवल पाश्चात्य प्रेरणा के स्थान पर प्राचीन भारतीय विचारों को महत्त्व मिलने लगा। "हमारे अर्वाचीन साहित्यमें सर्वाधिक विशिष्ट और मौलिक प्रतिभा वाले दोनों मनीषियों— बंकिम चन्द्र चटर्जी और टैगोर—की कृतियाँ इसी परिवर्तन की अवस्थाओं को प्रदर्शित करती हैं।"

श्री अरविन्द इसके साथ ही उस धारा की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं जिसमें "प्रत्येक पाश्चात्य विचार को अच्छा मानने के विरोध में प्रत्येक भारतीय विचार को अच्छा मानने की घोषणा की गई। "इस आवेग की लहरें अभी भी चल रही हैं और इसके अनेक प्रभाव अभी भी चल रहे हैं; क्योंकि इसका कार्य अभी पूर्ण नहीं हुआ है।" किन्तु वास्तव में इस प्रतिक्रिया का परिणाम अन्तत: अधिक सूक्ष्मतापूर्वक ग्रहण तथा जीर्ण रूपों को तोड़कर प्राचीन भावना और नवीन रूपों के संश्लेषण में हुआ है। "अतीत और वर्तमान से इस अधिक स्वतन्त्र व्यवहार के, पुनर्रचना द्वारा संरक्षण के, विवेकानन्द अपने जीवन-काल में सर्वप्रमुख उदाहरण थे और सबसे अधिक सशक्त व्याख्याता भी।" किन्तु समस्या का समाधान तो शुद्ध भारतीय चेतना की समृद्धि से ही होगा। श्री अरविन्द के शब्दों में "भारत को अपनी आत्मा की जन्मजात शक्ति पर ही पूर्णतया वापस पहुंचना होगा और अपने वर्तमान व भावी जीवन की आवश्यक शक्तियों को उस आत्मा

के लिए कार्य करने, संघटित करने तथा समंजित करने के लिए वस्तु-सामग्री में परिवर्तित करना होगा।" ऐसी नवीन रचना प्रत्येक क्षेत्र में करनी होगी जो भारतीय चेतना की मौलिक उद्भावना हो और आधुनिक भी हो। इसका एक उदाहरण श्री अरविन्द नवीन भारतीय कला में पाते हैं। ऐसी मौलिक रचनाएं ही इस बात का प्रमाण होंगी कि "भारत ने अपने पुनर्जागरण में सर्वांगत: आत्मा को प्राप्त कर लिया है।"

श्री अरविन्द इस बात पर प्रकाश डालते हैंकि इस आत्मोपलब्धि के परिणामस्वरूप भावी भारत का स्वरूप क्या होगा। यद्यपि स्पष्ट रूप से विवरण तो नहीं दिए जा सकते परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि आध्यात्मिक उद्देश्य सर्वप्रधान होगा। इस आध्यात्मिक उद्देश्य को मात्र तत्त्व-दर्शन अथवा निष्क्रिय चिंतन समझना भूल होगी। भारत तत्त्वदर्शन में सदैव आगे तो रहेगा परन्तु यह तत्त्वदर्शन फ्रांसीसी या जर्मन मन जैसी मात्र 'विचारों की बुनावट' नहीं होगा। "यह तत्त्वदर्शन सदैव ही अपने अनिवार्य भागों में आध्यात्मिक साक्षात्कार के प्रति बौद्धिक पहुंच रही है।" और वही इसका भावी स्वरूप भी होगा।

श्री अरविन्द एक महत्त्वपूर्ण बात बताते हैं कि "भारत में जीवन के सभी बड़े आन्दोलन नए आध्यात्मिक विचार और प्राय: एक नयी धार्मिक गतिविधि से प्राप्त हुए हैं।" श्री अरविन्द ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज के अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण व विवेकानन्द इत्यादि की गतिविधियों का उदाहरण देते हैं। भारत के इस्लामी समाज में भी हुई हलचलों का वे उल्लेख करते हैं। किन्तु इस सम्पूर्ण मन्थन का परिणाम क्या होगा, यह अभी स्पष्टतया नहीं कहा जा सकता। किन्तु श्री अरविन्द इस बात पर ध्यान आकर्षित करते हैं कि विद्वानों का ध्यान जीवन पर बढ़ता जा रहा है और धार्मिक संघ भी अब चिंतन इत्यादि पर ही ध्यान केन्द्रित नहीं कर रहे हैं अपितु शिक्षा, मानवता इत्यादि की सेवा पर ध्यान दे रहे हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि भारतीय पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप आध्यात्मिकता जीवन की ओर प्रवृत्त होगी। इसका माध्यम होगा नया भारतीय दर्शन जो अनुभूति से प्रादुर्भूत होगा। साहित्य, कला इत्यादि में नए प्रारम्भ हो चुके हैं जैसा बंगाल में दिखाई देता है। श्री अरविन्द बंगाली साहित्य आदि के नवीन स्वरूप का परिचय देते हैं व विवेचन करते हैं। जहां तक समाज की पुनर्रचना का प्रश्न है, श्री अरविन्द उसकी संभावना भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात पुनर्जागरण के अधिक प्रभावी होने पर ही मानते हैं।

निस्सन्देह आध्यात्मिकता मन, प्राण और शरीर की उपेक्षा नहीं करेगी, न वह प्राचीन भारत में करती थी। "आध्यात्मिकता अवश्य ही सब कुछ छोड़ने वाली नहीं होती, यह सर्व-समावेशी हो सकती है और अपनी परिपूर्णता के लिए होनी भी चाहिए।" हाँ, आध्यात्मिक दृष्टिकोण में मन, प्राण और शरीर उच्चतम विकास

के लिए साधन मात्र हैं स्वयं साध्य नहीं हैं। राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्म इत्यादि भी उस विकास के साधन मात्र हैं। यह उच्चतम विकास है मानव का यथार्थ 'स्व' में, दिव्यता में, भगवान में, जीना और दिव्य जीवन को पृथ्वी पर साकार करना। "यही आध्यात्मिक संस्कृति है और आध्यात्मिकता का जीवन में प्रयोग है।" श्री अरविन्द के अनुसार "जो इस आदर्श पर विश्वास न करें या इसे समझ न सकें वे अभी भी उसी यूरोपीय जीवन-कल्पना के प्रभाव में हैं जिसने कभी भारतीय भावना को पूर्णतया समाप्त करने की धमकी दी थी।" भारत अपना सर्वोत्तम विकास करे और मानव की सर्वोत्तम सेवा करे इसके लिए भारत को अपनी प्रकृति के अनुसार यथार्थ विकास करना होगा। इसका अर्थ यह समझना त्रुटिपूर्ण है कि भारत ऐसे सब विचारों या कार्यों की उपेक्षा करे जिनका प्रारम्भ पश्चिम में हुआ हो। वस्तुतः "ऐसा दृष्टिकोण बौद्धिक दृष्टि से असंगत, भौतिक दृष्टि से असम्भव और सर्वोपरि अनाध्यात्मिक होगा, सच्ची आध्यात्मिकता किसी नवीन प्रकाश को, हमारे मानवीय आत्मविकास में किन्हीं नए साधनों या नई सामग्रियों को, अस्वीकार नहीं करती।" इसका अर्थ क्या है ? अपनी प्रकृति को बनाये रखना और सब कुछ ग्रहण करते हुए भी उसके द्वारा ही नवीन रचनाएं करना।

श्री अरविन्द इस विचार का कि भारत के पतन का कारण धर्म का आधिक्य हुआ है, अत्यन्त कुशलता से खंडन करते हैं। उनके अनुसार भारत का पतन इसीलिए हुआ कि भारत का बहुमत सही अर्थों में धार्मिक नहीं रहा था और "सार्वजनिक जीवन अधर्मपूर्ण, अहंकारपूर्ण, स्वार्थी, भौतिकवादी हो गया था।" कर्मकांड का बढ़ना भी धर्मों का बढ़ना नहीं है। जीवन में व्यापक रूप से आध्यात्मिकता का छा जाना ही धार्मिकता है। वस्तुतः "आध्यात्मिकता का कम होना, बौद्धिक सक्रियता और स्वतन्त्रता का समाप्त होना, महान आदर्शों का धुंधला हो जाना और जीवन के वेग का नष्ट हो जाना" ही वे बड़ी भूलें हुईं जिनके कारण राष्ट्र अधःपतित हो गया। और इसकी सच्ची चिकित्सा भी प्राचीन आदर्श को जिन्दा करना नहीं अपितु धर्म को प्राचीन महानतम अर्थ में ग्रहण करना तथा उसे और भी विस्तृत करना तथा राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन को सत्य ही इस उच्च आध्यात्मिक अर्थ में धर्म बना देना है।" निस्सन्देह यूरोप आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाने लगा है तब भारत जिसके पास आध्यात्मिक विकास की कुंजी है, प्रकाश दिखाए यह उसका कर्तव्य ही है। भारत पर विश्व के आध्यात्मिक नेतृत्व का दायित्व है, विश्व की समस्याओं का, जो समाधान हीन-सी दिखाई पड़ती हैं, समाधान उसके प्राचीन ज्ञान में अवश्य है किन्तु क्या भारत उसके लिए अपनी तैयारी करेगा ? "भारत इस पुनर्जागरण में, अपने पर आने वाले इस दायित्व के अनुरूप उन्नत हो सकेगा या नहीं, यह उसके भाग्य का निर्णायक प्रश्न है।"

२१. मानव-चक्र

श्री अरविन्द की प्रसिद्ध कृति 'मानव-चक्र' (दि ह्यूमन साइकिल) की सामग्री का प्रथम प्रकाशन 'आर्य' में (अगस्त १५, १६१६ से जुलाई १५, १६१८ तक) क्रमशः हुआ था और १६४६ में यह प्रथम बार पुस्तकाकार प्रकाशित हुई थी। इसमें २४ अध्याय हैं—

१. समाज का चक्र
२. व्यक्तिप्रधान तथा तर्कबुद्धि का युग
३. अनुभवप्रधान युग का आगमन
४. राष्ट्र-आत्मा की खोज
५. सच्चा और झूठा अनुभववादी
६. जीवन के वस्तुवादी और अनुभववादी दृष्टिकोण
७. सामाजिक विकास का आदर्श
८. सभ्यता तथा बर्बरता
९. सभ्यता और संस्कृति
१०. सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक संस्कृति
११. जीवन की शासक तर्क-बुद्धि
१२. तर्कबुद्धि का धर्म और उसकी सीमाएं
१३. तर्कबुद्धि और कर्म
१४. अतिबौद्धिक सौन्दर्य
१५. अतिबौद्धिक शिव
१६. जीवन की अतिबौद्धिक परिणति
१७. धर्म जीवन का एक विधान
१८. विकास-क्रम में अवबौद्धिक युग
१९. बौद्धिक युग की दिशा
२०. बौद्धिक धारा का अन्त
२१. आध्यात्मिक रूपान्तर की आवश्यकता
२२. आध्यात्मिक उद्देश्य और जीवन
२३. आध्यात्मिक युग के आगमन की अनिवार्य शर्तें
२४. आध्यात्मिक युग का उदय और विस्तार

इस ग्रन्थ में श्री अरविन्द ने मानव-इतिहास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता बताने के पश्चात वैसी व्याख्या प्रस्तुत भी की है। आधुनिक विज्ञान ने अपने जड़वादी दृष्टिकोण के कारण मानव-मन व आत्मा के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक तथ्यों की जो उपेक्षा की है, उस पर श्री अरविन्द ने प्रहार किया है। 'आर्थिक' आवश्यकता को ही प्रमुखता देने के कारण मानव-संस्थाओं के विकास में 'विचार' की अवहेलना कर दी गई है। पाश्चात्य विद्वानों में से केवल जर्मन सिद्धान्तकार लैम्प्रेख्ट ने मानव-इतिहास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का प्रयास किया था। उसे

त्रुटिपूर्ण मानते हुए भी श्री अरविन्द ठीक दिशा में महत्त्वपूर्ण पग मानते हैं तथा उसको संशोधित व अभिनव रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे लैम्प्रेख्ट के इस विचार को स्वीकार कर लेते हैं कि "मानव-समाज कुछ विशेष मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं में से होता हुआ प्रगति करता है जिन्हें उसने क्रमशः प्रतीकात्मक (सिम्बालिक), प्रकाराश्रित (टाइपल), परम्परा-प्रधान (कन्वेशनल), व्यक्तिप्रधान (इंडिविडुयलिस्टिक) तथा अनुभव-प्रधान (सब्जेक्टिव) कहा है।" श्री अरविन्द प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देते हैं कि मानव व मानव-संस्थाओं का मनोविज्ञान जटिल होने के कारण "इस प्रकार के वर्गीकरण में समाज को एक कठोर नियम में जकड़ देने की तथा प्रकृति के घुमाव-फिराव वाली टेढ़ी-मेढ़ी रेखा के स्थान पर एक मानसिक सीधी रेखा मान लेने की भूल की संभावना रहती है।" किन्तु मन या जड़तत्त्व के प्राकृतिक नियमों को समझने के लिए यह विश्लेषणात्मक अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है।

मानव-समाज अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अवश्य ही प्रतीकात्मक मनोवृत्ति से युक्त दिखाई पड़ता है। प्रारम्भ में यह प्रतीकात्मकता धर्म के क्षेत्र में दिखाई देती है और फिर बाद में धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं के रूप में। श्री अरविन्द के शब्दों में—"प्रतीकवाद तथा व्यापक कल्पनात्मक अथवा अन्तःप्रज्ञात्मकधार्मिक भावना में एक सहज सम्बन्ध होता है और विशेषतः प्राचीन अथवा प्रारम्भिक रचनाओं में वे सदा साथ-साथ रहे हैं।...तब फिर ये प्रतीक किसी ऐसी वस्तु के होते हैं जिसे मनुष्य अपने पीछे, अपने जीवन तथा अपनी क्रियाओं की पृष्ठभूमि में विद्यमान अनुभव करता है यथा भगवान, देवता, कोई नामरहित विशाल तथा गहन सत्ता, कोई पदार्थों का छिपा हुआ जीवन्त एवं रहस्यमय स्वभाव। मनुष्य की समस्त धार्मिक और सामाजिक संस्थाएं, उसके जीवन के समस्त क्षण और अवस्थाएं, ये सब के सब उसके लिए प्रतीक हैं।" श्री अरविन्द ने भारतीय समाज की आरम्भिक अवस्था में यज्ञ, ऋग्वेद के विवाहसूक्त आदि तथा वर्ण-व्यवस्था में इसी प्रतीकात्मकता का दर्शन किया है। वे कहते हैं—"हमारे लिए कविता, बुद्धि तथा भावना का विलासमात्र है, कल्पना एक खिलौना तथा आमोद-प्रमोद की वस्तु है और हमारे मन को बहलाने वाली नर्तकी है। किन्तु प्राचीन लोगों के लिए कवि द्रष्टा होता था, अन्तर्निहित गूढ़ सत्यों का उद्घाटन करने वाला ऋषि और कल्पना...भगवान के मन्दिर की पुजारिन होती थी।—उन ऋषियों के लिए उपमा भी अव्यक्तका अभिव्यंजक प्रतीक थी और इसका प्रयोग भी इसीलिए किया जाता था कि इसके द्वारा मन के बोध के लिए उस भाव का उद्बोधक रीति से संकेत किया जा सकता था जिसे यथार्थ बौद्धिक शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त करने की आशा नहीं की जा सकती थी...उनके विचार में मानव-समाज उस विराट् पुरुष को जीवन में अभिव्यक्त करने का एक प्रयत्न था जो स्वयं को अन्य प्रकार से

भौतिक तथा अतिभौतिक विश्व के रूप में अभिव्यक्त किए हुए है। मनुष्य तथा विश्व दोनों एक ही अदृश्य सत्य के प्रतीक तथा अभिव्यंजक हैं।

प्रतीकात्मक युग मुख्य रूप से धार्मिक तथा आध्यात्मिक होता है किन्तु मानव-विकास का दूसरा सोपान अर्थात प्रकाराश्रित युग मुख्यतया मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक होता है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक तत्त्व अब उनकी तुलना में गौण हो जाते हैं। मानव-जीवन में भागवत सत्ता की अभिव्यक्ति की बात पीछे चली जाती है और धर्म अब केवल नैतिक लक्ष्य तथा अनुशासन के लिए एक 'गुह्य स्वीकृति मात्र' रह जाता है। इस युग में "बड़े-बड़े सामाजिक आदर्शों की सृष्टि होती है" जो मानव-मन पर अमिट प्रभाव छोड़ते हैं। पहले युग में वर्णों का केवल प्रतीकात्मक वर्णन था, किंतु अब इस युग में वर्ण-व्यवस्था एक सामाजिक आदर्श बन जाता है।

कालान्तर में प्रकाराश्रित अवस्था, परम्परा-प्रधान युग में परिवर्तित हो जाती है और 'बाह्य उपकरण जो आत्मा एवं आदर्श की बाह्य अभिव्यक्ति के साधन होते हैं, अब स्वयं आदर्श से भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं।" उदाहरणार्थ वर्ण-व्यवस्था के पहले कम महत्त्व पाने वाले "जन्म, आर्थिक कर्म, धार्मिक कर्मकाण्ड तथा पवित्र संस्कार एवं पारिवारिक रीति-नीति' जैसे बाह्य भौतिक अवलम्बों को अत्यधिक महत्त्व मिल जाता है। "समाज के परम्परा-युग की प्रवृत्ति स्थिर तथा सुव्यवस्थित करने की, मर्यादाएं बांधने की, रूढ़ पद्धतियों तथा वंश-परम्पराओं का विधान स्थापित करने की, विद्या और शिक्षण को परम्पराओं तथा अपरिवर्तनीय रूप के साथ बांध देने की, विचार को अचूक प्रमाणों के द्वारा परखने की तथा जो उसे मनुष्य का पूर्ण जीवन प्रतीत होता है, उसे अंतिम तथ्य प्रमाणित करने की ओर होती है।" श्री अरविन्द बताते हैं कि 'स्वर्ण काल' भी इसी परम्परा-युग में होता है और "जब आने वाली संततियां दूर से इस युग पर दृष्टि डालती हैं, तब अपनी यथार्थ सुव्यवस्था, सुन्दर तथा सूक्ष्म सामाजिक रचना और एक व्यापक तथा उच्चकोटि की आयोजना में इसके अंगों की सराहनीय अधीनता के कारण यह स्वर्ण-युग उन्हें प्रायः बड़ा सुन्दर तथा आकर्षक प्रतीत होता है।"

जब परम्परा युग दूषित हो जाता है और परम्परा, रूढ़ि का अवांछनीय रूप ले लेती है तब मानव-समाज के विकास में व्यक्ति-प्रधान युग का प्रारम्भ होता है। यह युग विद्रोह के रूप में प्रारम्भ होता है। "नवीन युग के व्यक्तिवाद विश्वास और व्यवहार की परम्पराओं के पीछे वास्तविक और ठोस सत्य की किसी दृढ़ आधारशिला को खोज निकालने का एक प्रयत्न होता है।" इस युग में "व्यक्ति को ही आविष्कारक तथा नेता बनकर, अपनी व्यक्तिगत बुद्धि, अन्तःप्रज्ञा, आध्यात्मिक आकांक्षा तथा जीवन पर अपने अधिकार अथवा अपने अंदर के किसी भी अन्य प्रकाश की सहायता से, जगत तथा स्वयं अपनी सत्ता का सच्चा विधान खोज निकालना होता है।" और यह विधान जैसा भी उसे सूझे वह इसे सर्वश्रेष्ठ मान-

कर इसी पर धर्म, समाज आदि सभी को ढालने का प्रयत्न करता है। श्री अरविन्द बताते हैं कि "इस व्यक्ति-प्रधान युग का जन्म यूरोप में हुआ और वहीं इसका पूर्ण साम्राज्य भी स्थापित हुआ। इस युग में पूर्व का प्रवेश किसी मौलिक प्रवृत्ति के कारण नहीं अपितु यूरोप के संसर्ग तथा प्रभाव के कारण ही हुआ।" यूरोप के व्यक्ति-प्रधान युग में बुद्धि का प्रधान विद्रोही स्वर रहा और फलस्वरूप भौतिक विज्ञान की अत्यधिक प्रगति हुई परन्तु यह सब सफलता ऊपरी तल की सफलता मात्र है। उसमें गहराई का अभाव रहा है। "यूरोप की बुद्धिवादी सभ्यता ने समस्त संसार में विजय का जो डंका बजाया, उसका कारण यह था कि कोई अधिक गंभीर तथा अधिक शक्तिशाली सत्य उसका सामना करने के लिए उपस्थित नहीं था क्योंकि शेष समस्त मानव-जाति परम्परा-युग की अंतिम अंधकारमय घड़ियों में निष्क्रियता की नींद ले रही थी।"

व्यक्ति-प्रधान युग में "जीवन, विचार और कर्म के ठोस सत्यों को पुनः उपलब्ध करने की प्रबल आवश्यकता" अनुभव की जाती है। किन्तु इस युग में भी मानव-समाज परम्पराओं से मुक्त नहीं हो पाता। इसलिए व्यक्ति-प्रधान युग के उपरान्त अनुभव-प्रधान युग का आगमन तब होता है जब यह स्पष्ट हो जाता है कि "पदार्थों के सत्य को और उस सत्य के सम्बन्ध से अपनी सत्ता के विधान को खोज निकालने के लिए अधिक गहरे जाना होगा और अपने तथा पदार्थों के आभ्यंतरिक रहस्य एवं उनके बाह्य रूपों और परिस्थितियों की थाह लेनी होगी।" किंतु कोरे आलोचनात्मक व विश्लेषणात्मक तर्क उसकी अधिक सहायता नहीं कर पाते और उसे सक्रिय आत्म-सचेत बनकर ही स्वयं को पूर्णतया जान पाना संभव होगा। "इस प्रक्रिया में तर्कसम्मत आदर्श, अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान एवं गंभीरतर आत्मबोध के आदर्श के अधीन होने लगता है; उपयोगितावादी मानदंड के स्थान पर आत्म-चेतना तथा आत्मसाक्षात्कार की आकांक्षा आ जाती है; भौतिक प्रकृति के व्यक्त नियमों के अनुसार जीवन-यापन करने की विधि के स्थान पर आ जाता है जगत के जीवन में तथा मानव-जाति के आंतरिक तथा बाह्य जीवन में क्रियाशील गुप्त विधान, संकल्प तथा शक्ति के अनुसार जीने का प्रयास।"

आधुनिक युग अनुभववाद का युग है। श्री अरविन्द के अनुसार इसी युग में मानव-समाज पुनः उस विस्तृत ज्ञान की ओर बढ़ेगा जिसे "पुराने लोगों ने धार्मिक तथा सामाजिक प्रतीकवाद के द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया था" और जिसे मानव-समाज बाद में विस्मृत कर बैठा। "पहले मानव के आंतरिक अनुभव को गहरा बनाकर, और संभवतः मानव-जाति में अन्तर्दृष्टि और आत्मज्ञान की अभूतपूर्व मात्रा में पुनः स्थापना करके, यह युग अंत में उसकी सामाजिक व सामूहिक आत्माभिव्यक्ति में क्रांति उत्पन्न करेगा।"

श्री अरविन्द का 'राष्ट्र-आत्मा की खोज' नामक निबन्ध भी महत्त्वपूर्ण है। वे

राष्ट्र की सामुदायिक आत्मा और व्यक्ति की व्यक्तिगत आत्मा में समानता व विषमता दिखाते हैं। राष्ट्र भी व्यक्ति के समान मूलतः एक आत्मा है, न कि यह कि राष्ट्र की एक आत्मा है। राष्ट्र-आत्मा सामुदायिक होने के कारण बहुत जटिल होती है। उसकी अनुभूति बाद में होती है, पहले वस्तुनिष्ठ राष्ट्र-चेतना ही सामने आती है। "यह वस्तुनिष्ठता राष्ट्र के उस सामान्य भावुकतापूर्ण विचार में बड़ी प्रबलता के साथ प्रकट होती है जो इसके भौगोलिक अर्थात अत्यन्त बाह्य और स्थूल रूप में ही केंद्रित रहता है अर्थात जिस देश में हम रहते हैं, जो हमारी पितृ-भूमि है, हमारी जन्मभूमि है, उसके प्रति उत्कट प्रेम।" किन्तु वस्तुनिष्ठ राष्ट्र-चेतना से उच्चतर है अनुभवनिष्ठ राष्ट्रचेतना जो इस अनुभूति से उत्पन्न होती है कि "भूमि तो देश का एक बाह्य आवरण मात्र है—इसकी सच्ची देह तो वे पुरुष और स्त्रियां हैं जो राष्ट्र-इकाई के निर्माता हैं और यह देह एक निरन्तर परिवर्तन-शील परन्तु व्यक्ति की देह के समान सदा वहीं रहने वाली देह है।" पश्चिम में वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ही राष्ट्र को देखा गया है और "शासक, प्रजा और विचारक समान रूप के अपने-अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को मानते रहे हैं···एक राजनीतिक स्थिति, अपनी सीमाओं का विस्तार, अपनी आर्थिक समृद्धि तथा विस्तार, अपने नियम, संस्थाएं और उनके कार्य।" इसी भ्रांत दृष्टि के कारण राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्यों व गतिविधियों को ही प्रधानता दी जाती रही है। राष्ट्र-आत्मा ही इन गतिविधियों की पृष्ठभूमि में कार्य करती रही है, किन्तु ऊपरी तल पर उसका स्पष्ट अनुभव नहीं किया गया है। राष्ट्र की आत्मपरक सत्ता का "एक अस्पष्ट सा भाव सामुदायिक मानसिकता के बाह्य तल पर भी सदा काम करता रहा है।" अब आत्मनिष्ठ राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी है और पराधीन या नवस्वतन्त्र "राष्ट्रों में आत्मोपलब्धि की प्रवृत्ति अत्यन्त सशक्त रही है तथा उनमें से कुछ में तो इस प्रवृत्ति ने एक नवीन प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलन की सृष्टि भी की है, यथा आयरलैण्ड तथा भारत में ही।"

श्री अरविन्द 'जर्मन आत्मनिष्ठ राष्ट्रवाद' का उदाहरण देते हुए उसके उत्थान की प्रशंसा किन्तु साथ ही असफलता की मीमांसा भी करते हैं तथा सच्चे और झूठे अनुभववाद का विवेचन करते हैं। श्री अरविन्द बताते हैं कि 'अहं' और 'आत्मा' का अन्तर समझना महत्त्वपूर्ण है। उनके शब्दों में—"सच्चा अनुभववाद हमको यही सिखाता है। प्रथम हम अपने अहं अथवा अपनी सत्ता के अंगों से अधिक उच्च आत्मा हैं। दूसरे, हम अपने जीवन और अपने अस्तित्व में केवल स्वयं ही नहीं हैं अपितु सर्वात्मक भी हैं।···भारत का यह प्राचीन अनुसंधान है कि हमारा वास्तविक 'स्व' एक परम सत्ता है और यही हमारी सच्ची आत्मा है, और यहां हमारा कार्य उसकी ही खोज करना और सचेतन रूप में वही बन जाना है। दूसरे, वह परम सत्ता सबके अन्दर एक ही है, व्यष्टि और समष्टि में वही अभिव्यक्त हो

रही है। दूसरों के साथ अपनी एकता को स्वीकार तथा अनुभव करके ही हम अपनी सच्ची आत्मसत्ता की पूर्ण परितृप्ति कर सकते हैं।" जर्मनशासकों ने राष्ट्रीय अहम् को पुष्ट किया, राष्ट्र-आत्मा को नहीं और फिर राष्ट्र-आत्मा को विश्व-आत्मा से एकरूप देखने की उन्होंने पूरी उपेक्षा की। परिणामस्वरूप, जर्मन राष्ट्रवाद मानवता पर भीषण संकट के रूप में आया।

श्री अरविन्द ने 'सामाजिक विकास का आदर्श विधान' निबन्ध में व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध-विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया है। प्रत्येक समुदाय चाहे वह धर्मपंथ हो, श्रेणी हो, संस्था हो, संघ हो या मानव-समाज ही क्यों न हो, अन्ततः एक मध्य की स्थिति मात्र है। इनमें से प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के लिए आवश्यक तो है परन्तु यह बात ध्यान रखने की है कि यह उसका अंतिम लक्ष्य नहीं हो सकते क्योंकि "वह न तो सामन्त, व्यापारी, योद्धा, पुरोहित, विद्वान, कलाकार, किसान अथवा कारीगर मात्र है और न केवल कोई धर्मावलम्बी, दुनियादार अथवा राजनीतिज्ञ ही है; न ही वह अपनी राष्ट्रीयता में सीमित हो सकता है...यदि वह अपने एक भाग में राष्ट्र का है तो अपने दूसरे भाग में वह उससे आगे बढ़कर मानवता से सम्बन्धित हो जाता है। उसमें एक ऐसा भाग भी है जो मानवता तक ही सीमित नहीं है और वह सबसे बड़ा भाग है। उस भाग में वह भगवान से, सब प्राणियों के जगत से तथा भविष्य के देवताओं से सम्बन्धित है।"

इस प्रकार श्री अरविन्द ने बड़ी सुन्दरता से यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि जैसे राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों अथवा विश्व से अपने अस्तित्व की रक्षा का अधिकार है, वैसे ही राष्ट्र के लिए भी यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति के अस्तित्व का सम्मान करे, उसे स्वाभाविक विकास का पूर्ण अवसर दे और उसके व्यक्तित्व को न नष्ट करे, न उस पर आघात करे। "जिस प्रकार व्यक्तियों का अपने अन्दर से उन्मुक्त विकास समुदाय की वृद्धि तथा पूर्णता के लिए सर्वोत्तम परिस्थिति है, उसी प्रकार समुदाय अथवा राष्ट्र का भी अपने अन्दर से उन्मुक्त विकास मानवजाति की वृद्धि एवं पूर्णता के लिए सर्वोत्तम अवस्था है।"

श्री अरविन्द अपने आदर्श विधान को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"इस प्रकार व्यक्तित्व का अपने अन्दर से उन्मुक्त विकास सिद्ध करना ही व्यक्ति का विधान है परन्तु साथ ही दूसरों के उसी प्रकार के उन्मुक्त विकास का सम्मान करना, उसमें सहायता देना और उनसे सहायता प्राप्त करना भी इसी विधान में शामिल है। अपने जीवन को समाज के जीवन के साथ सुसमन्वित कर देना और वृद्धि एवं पूर्णता के लिए एक विकासशक्ति के रूप में स्वयं को उँडेल देना भी उसका विधान है।" तत्पश्चात राष्ट्र का विधान बताते हुए वे कहते हैं—"इसके समान ही राष्ट्र एवं समुदाय का भी यह विधान है कि वह व्यक्ति के विकास में सहायता करते हुए तथा व्यक्ति से पूर्ण लाभ उठाते हुए, परन्तु साथ ही दूसरे राष्ट्रों एवं समुदायों के

उन्मुक्त विकास का सम्मान करते हुए, उनकी सहायता करते हुए और उनसे सहायता प्राप्त करते हुए अपने अन्दर के उन्मुक्त विकास के द्वारा अपने सम्मिलित जीवन में पूर्णता लाए। साथ ही, मानव-समाज के जीवन के साथ अपने जीवन को सुसमन्वित कर देना और वृद्धि एवं पूर्णता की साधक शक्ति के रूप में स्वयं को मानवता पर उँडेल देना भी उसके विधान का एक भाग है।"और अन्त में मानव-जाति का विधान बताते हुए वे कहते हैं—"मानव-जाति का विधान यह है कि वह स्वयं में भगवान की सिद्धि एवम् अभिव्यक्ति के लिए समस्त व्यक्तियों, राष्ट्रों एवं मनुष्यों में समुदायों के उन्मुक्त विकास और संसिद्धियों का पूर्ण लाभ उठाते हुए, अपने विकास की ऊर्ध्वगति का अनुसरण करे और उस दिन के लिए कार्य करती जाए जब वह केवल आदर्श में ही नहीं, वास्तविक रूप में भी एक भागवत परिवार बन सकेगी।" किन्तु श्री अरविन्द यह बात और जोड़ते हैं—"परन्तु अपना एकीकरण कर लेने के पश्चात भी उसे अपने व्यक्तियों और अपने अन्तर्गत समुदायों के उन्मुक्त विकास एवं कर्म का सम्मान करना होगा, उनकी सहायता करनी होगी, उनसे सहायत । प्राप्त करनी होगी।"

निस्सन्देह यह सामाजिक विकास का आदर्श विधान है। वह स्वर्ण दिन होगा जब विश्व इसे कार्यान्वित करेगा !

श्री अरविन्द की इस कृति में सबसे महत्त्वपूर्ण अंश वह है जिसमें वे आध्यात्मिक युग के आगमन की भविष्यवाणी करते हैं। मानव-जाति के विकास में बौद्धिक युग ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है किन्तु अन्ततः आध्यात्मिकता पर आधारित मानव-समाज की स्थापना से आध्यात्मिक युग का प्रारम्भ होगा और इस युग में मानव की महत्तर क्षमताएं प्रकट होंगी। आध्यात्मिक दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है और उसके अनुसार मानव मात्र मन, प्राण और शरीर के रूप में नहीं देखा जा सकता, वस्तुतः वह आत्मा है। आध्यात्मिक लक्ष्य "मनुष्य जीवन के उन सब विभिन्न भागों को पवित्र समझेगा जो उसकी सत्ता के शारीरिक, प्राणिक, गतिशील, आवेगात्मक, सौन्दर्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास के साथ सम्बन्ध रखते हैं और साथ ही वह उन्हें एक दिव्य जीवन में विकसित होने के लिए एक साधन भी समझेगा। वह मानव-समाज, राष्ट्र, जाति अथवा किसी भी अन्य सुघटित समुदाय को इसी दृष्टि से देखेगा।" श्री अरविन्द इसी बात को दूसरे शब्दों में ऐसे रखते हैं—"वह उन्हें परम आत्मा की उप-आत्माएं समझेगा।"

श्री अरविन्द मानव के आध्यात्मिक रूपान्तरण की आवश्यकता का विवेचन करते हैं तथा आध्यात्मिक युग के आगमन की अनिवार्य शर्तों का भी उल्लेख करते हैं। वे कृति के अन्तिम अध्याय में यह महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं कि "समष्टिगत आत्मा तो केवल वैयक्तिक जीवन के एक महान अर्ध-अवचेतन स्रोत के रूप में ही अपना अस्तित्व रखती है" और उसका नया सामूहिक जीवन "अपने व्यक्तियों के

वृद्धिशील विकास द्वारा ही" हो सकेगा। वे आगे कहते हैं "और इसलिए आध्यात्मिक युग के आने से पहले कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य प्रकट होने चाहिए जो अब मनुष्य के सामान्य बौद्धिक, प्राणिक और भौतिक जीवन से संतुष्ट न हों अपितु वे यह देख लें कि मनुष्य-जाति का सच्चा लक्ष्य एक महत्तर विकास है और वे अपने अन्दर इसे चरितार्थ करने का, दूसरों को इस ओर ले जाने तथा इसे मानव-जाति का एक स्वीकृत लक्ष्य बनाने का यत्न करें।" उनकी सफलता की मात्रा ही युग की संभावना की मात्रा होगी। इसमें एक नए सम्प्रदाय के निर्माण के खतरे से भी श्री अरविन्द सावधान करते हैं क्योंकि हर नया धर्म-सम्प्रदाय एक आन्दोलन के रूप में दो-तीन पीढ़ी में ही शिथिल हो जाता है और आध्यात्मिकता या तो बौद्धिकता या कर्मकाण्ड की दास हो जाती है। इसे असम्भव कहना व्यर्थ है। "एक सच्चा आरम्भ करना ही होगा; शेष कार्य 'काल' पर निर्भर है, चाहे प्राप्ति एकदम हो जाए या फिर एक लम्बे धैर्यपूर्ण प्रयत्न के बाद हो।" श्री अरविन्द इस आध्यात्मिक युग के उदय की पूर्ण आशा बंधाते हैं। आध्यात्मिक युग में मानव का दिव्य जीवन प्रारम्भ होगा "क्योंकि पशुप्रकृति से विचारशील और आकांक्षाशील मानव का जन्म उस दिव्य विकास का केवल एक अस्पष्ट प्रारम्भ तथा सुदूर आश्वासन था।"

२२. मानव-एकता का आदर्श

श्री अरविन्द की कृति 'मानव-एकता का आदर्श' (दि आइडियल आफ ह्यूमन यूनिटी) का सर्वप्रथम प्रकाशन 'आर्य' में क्रमशः (सितम्बर १९१५ से जुलाई १९१८ तक) हुआ था। पुस्तकाकार इसका प्रकाशन सर्वप्रथम १९१९ में हो गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व उसमें जो संशोधन किए थे उनसे युक्त संशोधित संस्करण १९५० में निकला था। 'मानव एकता का आदर्श' के दो भाग हैं जिनमें निम्नलिखित ३५ अध्याय हैं :

भाग १

१. एकता की ओर मोड़ : इसकी आवश्यकता और कठिनाइयां
२. पिछले समुदायों की अपूर्णता
३. समुदाय और व्यक्ति
४. राज्य सिद्धान्त की अपर्याप्तता
५. राष्ट्र और साम्राज्य : वास्तविक और राजनीतिक एकताएं
६. साम्राज्य की प्राचीन और आधुनिक प्रणालियां
७. विषमजातीय राष्ट्र का निर्माण
८. संघबद्ध विषमजातीय साम्राज्य की समस्या
९. विश्व साम्राज्य की संभावना
१०. यूरोप का संयुक्त राज्य
११. छोटी स्वतंत्र इकाई और बृहत्तर इकाई
१२. पूर्वराष्ट्रीय साम्राज्य—निर्माण का प्राचीन क्रम—राष्ट्र-निर्माण का आधुनिक क्रम
१३. राष्ट्र-इकाई का निर्माण—तीन अवस्थाएं
१४. अन्तर्राष्ट्रीय एकता की ओर पहला पग—उसकी भारी कठिनाइयां
१५. सफलता की कुछ दिशाएं
१६. एकरूपता और स्वतंत्रता की समस्या

भाग २

१७. हमारे विकास में प्रकृति का नियम—विभिन्नता में एकता, कानून और स्वाधीनता
१८. आदर्श समाधान—मनुष्य-जाति का स्वतंत्र समुदायीकरण
१९. केन्द्रीकरण और एकरूपता की प्रवृत्ति, वैदेशिक विषयों का नियन्त्रण औरशासन-प्रवंध
२०. आर्थिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति
२१. विधायक और सामाजिक केन्द्रीकरण एवं एकरूपता की प्रवृत्ति
२२. विश्व-संघ या विश्व-राज्य
२३. शासन के रूप
२४. सैनिक एकीकरण की आवश्यकता
२५. युद्ध और आर्थिक एकता की आवश्यकता
२६. प्रशासनीय एकता की आवश्यकता
२७. विश्व-राज्य का ख़तरा
२८. एकता में विभिन्नता
२९. राष्ट्रसंघ का विचार
३०. स्वतंत्र राज्य-संघ का सिद्धान्त
३१. स्वतंत्र विश्व संघ की शर्तें
३२. अन्तर्राष्ट्रीयता
३३. अन्तर्राष्ट्रीयता और मानव-एकता
३४. मानवता का धर्म
३५. सिंहावलोकन और निष्कर्ष
३६. ग्रन्थोत्तर अध्याय

श्री अरविन्द की इस कृति में मानव-एकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने "जीवन की गहराइयों, उसके गुप्त रहस्योंतथा उसके महान, गूढ़ और सर्वनिर्धारक नियमों का ज्ञान" प्राप्त करने की आवश्यकता उन आधुनिक विद्वानों के सामने रखी है जो केवल ऊपरी तलों तक ही दृष्टि ले जाते हैं। काल-प्रवाह में पतित तथा परिपक्व व गहरे ज्ञान के अभाव में मनुष्य "उतावले ढंग के सिद्धान्त बना लेते हैं, एकांगी प्रणालियां गढ़ लेते हैं, आज जिनकी बलपूर्वक घोषणा की जाती है, कल उन्हीं का विवश होकर त्याग करना पड़ता है।" आज मानव-एकता के आदर्श की चर्चा अवश्य सुनायी पड़ती है परन्तु इतने से ही वह प्राप्त नहीं हो जाएगी क्योंकि केवल बाहरी परिस्थितियों से नहीं, मानव के मन और हृदय की वास्तविक तैयारी से ही इस विषय में सफलता मिल सकती है।

श्री अरविन्द इस महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि उच्चतर सामाजिक या राजनीतिक एकता वरदान ही हो यह आवश्यक नहीं है। वह वरदान तब होगी जब वह व्यक्तिगत जीवन और सामूहिक जीवन दोनों को समृद्ध करने का साधन हो परन्तु इतिहास यह बताता है (जैसा श्री अरविन्द भारत तथा अन्य देशों के उदाहरणों से दरशाते हैं) कि सामूहिक जीवन तभी सफल रहा जब वह "सीमित प्रदेश तथा अधिक सरल संगठन में केन्द्रित हुआ।" श्री अरविन्द के अनुसार "मनुष्य जाति की एकता प्रकृति की अन्तिम योजना का अंग है और यह सिद्ध होकर ही रहेगा। परन्तु यह होगी उन अवस्थाओं में और सुरक्षा के उन साधनों के साथ जो जाति की जीवन-शक्ति के मूल को अक्षुण्ण रखेंगे तथा उसकी एकता को विविधता से भरपूर कर देंगे।"

श्री अरविन्द पिछले समुदायों की अपूर्णता की मीमांसा करते हुए यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं कि प्रकृति की कार्यशैली में व्यष्टि-समष्टि-समन्वय की प्रवृत्ति महत्त्वपूर्ण है। "पूर्ण समाज वह होगा जो व्यक्ति की परिपूर्णता का पूरी तरह समर्थन करेगा; व्यक्ति की पूर्णता तब तक अधूरी रहेगी जब तक वह उसके समाज की समष्टि की तथा अन्ततः विशालतम मानव-समष्टि, संगठित मानव-समाज की पूर्णता की अवस्था को लाने में सहायक नहीं होती।" निस्सन्देह मानव के अनेक समुदायों में से कुछ कालान्तर में अन्तिम एकता के लिए बाधक समस्याएं खड़ी कर देते हैं और तब प्रकृति नया मार्ग अपनाती है। उदाहरणार्थ भारत में ही भाषायी इकाई, धार्मिक सम्प्रदाय आदि के द्वारा उठाई गई बाधाओं के कारण प्रकृति ने अन्त में "विदेशी शासन रूपी बाह्य शक्ति के प्रयोग" का आश्रय लिया और भारत पराधीन हो गया क्योंकि समुदायों का बड़े समुदाय 'राष्ट्र' के हित से सामंजस्य नहीं हो सका। परन्तु यह बाह्य एकता की समस्या हल कर लेने पर भी 'व्यक्ति' की समस्या बनी रहेगी क्योंकि "मानव-व्यक्ति अपना पृथक अस्तित्व रखना तथा कुटुम्ब, वंश, वर्ग और राष्ट्र की सीमा को पार करना चाहता है; एक ओर आत्म-पूर्णता तथा दूसरी ओर व्यापकता उसकी पूर्णता के आवश्यक अंग हैं।" वस्तुतः चाहे कोई भी समुदाय हो, दो मानव-प्रवृत्तियां—व्यक्तिवाद और समुदायवाद—का संघर्ष अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। श्री अरविन्द के अनुसार "मनुष्य जाति सर्वग्राही समुदाय से प्रारम्भ हुई थी और व्यक्ति पूर्णतया इसके अधीन था तथा व्यक्तित्व की वृद्धि मानव-विकास का एक गुण और मानसिक चेतना की उन्नति का परिणाम है।"

श्री अरविन्द राज्य सिद्धान्त की अपर्याप्तता की भी मीमांसा करते हैं। आधुनिक राज्य सिद्धान्त व्यक्ति से सामूहिक अहम् की पूर्ण अधीनता अर्थात अपने सभी हितों को राज्य के लिए समर्पित करने की मांग करता है। "इस सामूहिक अहम् का स्वरूप राजनीतिक, सैनिक तथा आर्थिक होता है।" यह सामूहिक अहम् कुछ

उद्देश्यों व महत्त्वाकांक्षाओं की कल्पना करता है और उसे सारे समुदाय की कल्पना मान लिया जाता है। श्री अरविन्द इन शासक राजनीतिज्ञों का स्वरूप उद्घाटित करते हुए कहते हैं कि "...ये शासकवर्ग या शासक-दल राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ बुद्धि या उसके सर्वोत्तम उद्देश्यों या उच्चतम प्रेरणाओं के प्रतीक" नहीं होते। संसारभर में कहीं भी राजनीतिज्ञ "जाति की आत्मा या उसकी उच्च आकांक्षाओं का प्रतीक नहीं होता। वह प्रायः अपने चारों ओर की सर्वसामान्य तुच्छता, स्वार्थपरता, अहं-वादिता और आत्मप्रवंचना का ही प्रतिनिधि होता है। इनका प्रतिनिधित्व तो वह भली-भांति करता ही है, साथ ही अत्यधिक मानसिक अयोग्यता, नैतिक रूढ़िता, भीरुता, क्षुद्रता तथा पाखण्ड का प्रतिनिधित्व भी करता है।" वह समस्याओं का समाधान भी महान ढंग से नहीं करता और "उच्च शब्द व उत्तम विचार उसके मुख पर होते हैं, परन्तु वे शीघ्रता से उसके दल की विज्ञापन-सामग्री बन जाते हैं।" ऐसे लोगों द्वारा शासित राज्य से मानव-कल्याण की आशा कैसे की जा सकती है।

किन्तु यदि शासन-यंत्र अधिक अच्छा भी होता तब भी राजसिद्धान्त के दावे के अनुसार राजा अपने आदर्श की प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि "संगठित राज्य न तो राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ बुद्धि है और न ही सामाजिक शक्तियों का कुल जोड़। वह अपने संगठित कार्य-क्षेत्र में से महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्गों की कार्यशक्ति तथा उनके विचारशील मन को बहिष्कृत कर देता है, उन्हें दबाता है या अनुचित रूप से निरुत्साहित करता है—यह एक सामूहिक अहंभाव है जो समाज के उच्चतम अहंभाव से बहुत निम्न कोटि का है।" निस्सन्देह "यह सामूहिक अहंभाव बड़ा अवश्य है परन्तु श्रेष्ठ नहीं है।" राज्य हमारे विकास का साधन रहे तब तक तो ठीक है परन्तु उसका साध्य बनने का दावा मिथ्या व अनर्थकारक है। राज्यसिद्धांत का यह दावा भी मिथ्या है कि वह मानव-विकास का सर्वोत्तम साधन है क्योंकि वह अन्ततः "मनुष्य की स्वतन्त्रता, प्रेरक शक्ति और वास्तविक उन्नति को" कुचल डालता है। इसका कारण यह है कि "राज्य प्राणिकसत्ता नहीं है, वह एक मशीन है और मशीन की ही भांति कार्य करता है।"

श्री अरविन्द राज्य का नहीं, राष्ट्र का समर्थन करते हैं। वे राष्ट्र और साम्राज्य पर विचार करते हुए 'राष्ट्र' की उपयोगिता तथा साम्राज्य व राज-नीतिक एकता की नश्वरता पर प्रकाश डालते हैं। उनके शब्दों में—"राष्ट्र एक ऐसी अटल मनोवैज्ञानिक इकाई है जिसे प्रकृति संसारभर में अत्यन्त विविध रूपों में विकसित करने तथा भौतिक और राजनीतिक एकता के लिए शिक्षित करने में संलग्न रही है। राजनीतिक एकता आवश्यक वस्तु नहीं है; यह न भी प्राप्त हो तो भी राष्ट्र का अस्तित्व बना रहता है और राष्ट्र अनिवार्य रूप से अपने-आपको चरितार्थ करने की ओर अग्रसर होता है।...वर्तमान समय में राष्ट्र वस्तुतः तब तक नहीं मिट सकता जब तक वह अन्दर से निष्प्राण ही न

हो जाए।·· राष्ट्र को बलपूर्वक विनष्ट या खण्डित करने के सारे आधुनिक प्रयत्न मूर्खतापूर्ण तथा निष्फल हैं, क्योंकि ये प्राकृतिक विकास के नियम की अवहेलना करते हैं।···साम्राज्य अब भी नाशवान राजनीतिक इकाइयां हैं परन्तु राष्ट्र अमर है। और वह ऐसा ही रहेगा जब तक इससे अधिक महान एक ऐसी सजीव इकाई नहीं मिल जाती जिसमें राष्ट्रभावना एक उच्च आकर्षण के अधीन स्वयं को विलीन कर दे।"

श्री अरविन्द ने राष्ट्र के निर्माण की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार—"राष्ट्र-प्ररूप के मध्ययुगीन और आधुनिक विकास को चिह्नित करने वाली विकास की तीन अवस्थाओं को ऐसी स्वाभाविक प्रक्रिया माना जा सकता है जिसमें जटिल स्थितियों और विषम सामग्रियों में से, आन्तरिक क्रिया द्वारा नहीं अपितु बाह्य क्रिया द्वारा, एक नए प्रकार की एकता का निर्माण करना होगा।" इस प्रक्रिया में पहली अवस्था है "शिथिलतर किन्तु विवश कर देने वाली समाज-व्यवस्था और सभ्यता का सर्वसामान्य प्रकार" जो राष्ट्र के लिए ढांचे का काम दे सके। दूसरी अवस्था है "एकता और केन्द्रीय नियन्त्रण" लाने वाले कठोर संगठन की जो एकरूपता लाए। तीसरी अवस्था है निर्माण व एकता का अभ्यास हो जाने के पश्चात् "स्वतन्त्र अन्तःविकास" की। तीसरी अवस्था आना आवश्यक है नहीं तो राष्ट्र जड़ व रूढ़ हो जाएगा और उसकी सजीवता व शक्ति समाप्त हो जाएगी। और तीसरी अवस्था आने से राष्ट्र और व्यक्ति का हित-संघर्ष नहीं होगा। किन्तु यह महत्त्वपूर्ण बात कभी भूलने की नहीं है कि "केवल अपने अस्तित्व के लिए न तो राष्ट्र-इकाई निर्मित ही होती है और न ही वह बनी रहती है। उसका आशय होता है मानव-समुदाय के एक ऐसे बृहत्तर सांचे का निर्माण करना जिसमें समग्र जाति केवल वर्ग और व्यक्ति नहीं—अपने पूर्ण मानव-विकास की ओर बढ़ सके।" मानव के मानसिक व आध्यात्मिक विकास में बाधक जो भी हो उसे नष्ट करना सदैव वांछनीय रहेगा और इसीलिए "मध्यवर्ग के पूंजीवाद को भी एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्वीकार करने के लिए प्रेरित या विवश करना पड़ेगा जिसमें कष्ट, दरिद्रता और शोषण नहीं होंगे तथा समाज की धन-सम्पत्ति का उन सबके द्वारा समान रूप से उपयोग किया जाएगा, जो उसे अर्जित करने में सहायक होते हैं।" तात्पर्य यह है कि मानव को अपने पूर्ण विकास के लिए जिस स्वतन्त्रता, न्याय और समता की आवश्यकता हो, राष्ट्र उसे प्रदान करे, इसी में उसकी सार्थकता है।

श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय एकता पर विचार करते हुए एक महत्त्व की बात यह कहते हैं कि जैसे "राष्ट्र की इकाई का विकास निश्चित ही, आन्तरिक आवश्यकता और भावना के कारण परन्तु राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों, पद्धतियों और साधनों के माध्यम से हुआ" उसी प्रकार मानव-एकता

का क्रम भी रहेगा। और तदनुसार पहली अवस्था शिथिल निर्माण और अपूर्ण व्यवस्था की होगी। आज मानव-जाति न तो बौद्धिक व भावनात्मक दृष्टि से और न आर्थिक, राजनैतिक आदि शक्तियों को देखते हुए मानव-एकता अर्थात मनोवैज्ञानिक एकता का रूप ले सकेगी, अभी तो केवल वह एक दूर की संभावना मात्र मानी जाने लगी है। यह तो मानव-एकता के आदर्श की प्रारम्भिक अवस्था ही है। बुद्धिजीवियों के तदर्थ प्रयासों का भी तत्काल परिणाम नहीं हो सकता। चूंकि मानव-मन में इस एकता के लिए न कोई सहज प्रेरणा है, न तीव्र भावना और इस कारण "अन्तर्राष्ट्रीय एकता के लिए जो भी व्यवस्था की जाएगी, वह राष्ट्रीय अहंभावों, तृष्णाओं, लालसाओं और दावों के पुराने आधार पर ही आगे बढ़ेगी और उन्हें केवल उतना ही अनुशासित करने का यत्न करेगी जितना अत्यन्त विध्वंसक संघर्षों को रोकने के लिए पर्याप्त होगा।" और "यदि राष्ट्रीय अहंभाव विद्यमान है, संघर्ष के साधन उपस्थित हैं तो उसके कारणों, अवसरों और बहानों का भी अभाव नहीं होगा।" वस्तुतः राष्ट्रीय अहंभाव और लोलुपता के रहते हुए सेना को कम कर देना आदि युद्ध रोकने में व्यर्थ होंगे। इसके समर्थन में श्री अरविन्द यूरोपीय युद्ध का उदाहरण देते हैं—"यूरोपीय संघर्ष ने यह सिद्ध कर दिया है कि युद्धकाल में देश को शस्त्र बनाने का एक विशाल कारखाना बनाया जा सकता है और राष्ट्र अपने सारे शान्तिपूर्ण पुरुप-समाज को सेना में बदल सकता है।" श्री अरविन्द ने इस बात पर भी विचार किया है कि जैसे राष्ट्र ने कानून बनाकर परिवारों के झगड़ों की असभ्य विधियों को समाप्त कर दिया है, वैसा अन्तर्राष्ट्रीय समाज में हो सकता है या नहीं।

श्री अरविन्द के अनुसार यह बहुत अच्छा होता यदि "समस्त मनुष्य जाति के आदर्श समुदाय 'अन्तर्राष्ट्रीय समाज या राज्य', से भी राष्ट्रीय स्वाधीनता एवं स्वतन्त्र राष्ट्रीय विकास और आत्म-साक्षात्कार को मानव-जाति की एकता और संयुक्त प्रगति व पूर्णता के साथ उत्तरोत्तर संगति प्राप्त करने जाने"—संभव होता। किन्तु उसके लिए मानव और उसके नेताओं व शासकों में जिन नैतिक उच्चता आदि गुणों की आवश्यकता है उनके अभाव में यह कैसे संभव होगा।

इस प्रकार श्री अरविन्द मानव-एकता के विभिन्न पक्षों व समस्याओं पर विचार करते हैं और मानव-जाति के विकास के लिए आवश्यक एकता, विभिन्नता आदि का गहरा विवेचन करते हैं। वे एकरूपता का विरोध करते हैं क्योंकि "एकरूपता जीवन का नियम नहीं है।" विभिन्नता आवश्यक है क्योंकि जीवन उसी के आधार पर स्थित है। वे अतिकेन्द्रीकरण को हानिकर मानते हैं—"जीवन की अस्वस्थ प्रणाली"। उनके अनुसार सच्ची व्यवस्था अन्दर से प्रकट होनी चाहिए, ऊपर से आरोपित नहीं। मनुष्य-जाति की सच्ची एकता तभी होगी जब वह स्वतन्त्र समूहों पर आधारित हो जो स्वयं स्वतंत्र

व्यक्तियों के स्वाभाविक संगठन हों। किन्तु श्री अरविन्द इस आदर्श की निकट भविष्य में पूर्ति की आशा नहीं रखते। यह भी उल्लेख्य है कि इस स्वाभाविक विविधता के अन्तर्गत वे राष्ट्र-भाषा का महत्त्व भी बताते हैं—"किसी राष्ट्र अथवा मानव समुदाय आत्मा के लिए यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह अपनी भाषा की रक्षा करे और उसे एक सशक्त और सजीव सांस्कृतिक मंत्र बना ले। जो राष्ट्र, जाति अथवा जनसमुदाय अपनी भाषा खो देता है, वह अपना सम्पूर्ण या सच्चा जीवन नहीं बिता सकता।"

श्री अरविन्द ने लीग आफ नेशन्स को प्रथम महायुद्ध रोकने में असफलता मिलने के कारणों का भी विवेचन किया है। उन्होंने स्वतन्त्र विश्व संघ की शर्तें बताते हुए दिशा-निर्देश किया था—"स्वतन्त्र विश्व संघ को अपने स्वरूप में एक ऐसी जटिल एकता होना चाहिए जो विभिन्नता पर आधारित हो और फिर उस विभिन्नता को स्वतन्त्र आत्मनिर्धारण पर आश्रित होना चाहिए।"

श्री अरविन्द 'अन्तर्राष्ट्रीयता' के यूरोपीय विचार को, जो मात्र बौद्धिक तथा अ-मनोवैज्ञानिक विधियों व व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करने वाला है, 'मानव-एकता' के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से बहुत निम्न कोटि का तथा अवांछनीय मानते हैं। वे इस अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध हैं जो "मानव-मन और मानव-जीवन के राष्ट्रीय विचार व रूप को अतिक्रान्त करने का तथा उसे मनुष्य-जाति का वृहत्तर समन्वय सिद्ध करने के हित में नष्ट करने का प्रयत्न" है। यह मानव-एकता का सच्चा आदर्श नहीं हो सकती।

"एक आध्यात्मिक आकांक्षा और जीवन-यापन के नियम के रूप में" मानवता का धर्म ही मानव-एकता के आदर्श को प्राप्त करा सकता है। मानवता के धर्म का "मूल विचार यह है कि मानवता वह दैवत्व है जिसकी मनुष्य को पूजा करनी चाहिए, सेवा करनी चाहिए और यह भी कि मनुष्य और मनुष्य-जीवन का सम्मान, उसकी सेवा और उन्नति मानना भावना का प्रधान कर्तव्य और प्रधान लक्ष्य है। किसी भी प्रतिमा को, न राष्ट्र, न राज्य, न कुटुम्ब और न ही किसी वस्तु को, इसका स्थान लेना चाहिए। वे केवल वहीं तक सम्मान के पात्र हैं जहां तक वे मानव-आत्मा की प्रतिमूर्तियां हैं···एवं उसकी आत्माभिव्यक्ति में सहायक हैं।··· जाति, धर्म, वर्ण, राष्ट्र, पद और राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रगति के सब भेदों को भुलाकर मनुष्य-मनुष्य को पवित्र माने यह मानवता का धर्म जब मनुष्य-मनुष्य का जीवन में उतर आएगा, तभी मानव एकता स्थायी रूप को प्राप्त कर सकेगी। मानवता का धर्म वस्तुतः आध्यात्मिक एकता का सन्देश देने वाला महान तत्त्व है।

२३. युद्ध और आत्मनिर्णय

श्री अरविन्द की कृति 'युद्ध और आत्मनिर्णय' (वार ऐण्ड सेल्फ़-डिटर्मिनेशन) 'आर्य' में प्रकाशित (१६१६-१६२०) तीन लेखों में भूमिका व 'लीग आफ़ नेशंस' निबन्ध जोड़कर १६२० में पुस्तकाकार प्रकाशित हो गई थी।

अगले संस्करण में इसमें 'युद्ध के पश्चात्' निबन्ध भी जोड़ दिया गया था। इस तरह इसमें कुल पांच निबन्ध हैं—

१. युद्ध की समाप्ति

२. अदृश्य शक्ति

३. आत्मनिर्णय

४. एक राष्ट्र संघ

५. युद्ध के पश्चात्

ग्रन्थ का प्रारम्भ इन दार्शनिक पंक्तियों से होता है—"मानव-जाति का विकास उन कल्पनाओं की शृंखलाओं के साथ आगे बढ़ता है जिन्हें मानव जातीय संकल्प चरितार्थ तथ्यों में परिणत कर देता है और फिर भ्रांतियों की उस शृंखला के साथ जिसकी प्रत्येक कड़ी में एक अनिवार्य सत्य रहता है। यह सत्य, उस गुप्त संकल्प एवं ज्ञान में रहता है जो हमारे लिए हमारे कार्यों को सम्पादित कर रहे हैं, और साथ ही वह मनुष्य की आत्मा में स्वयं को प्रतिबिम्बित भी करता है। भ्रांति उस आकार में रहती है जो हम उस प्रतिबिम्ब को देते हैं···।"

श्री अरविन्द उन भ्रांतियों का उल्लेख करते हैं जो प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने के साथ ही, स्पष्ट हो गई जैसे "व्यवसायवाद से युद्ध के अतिक्रमण की आशा", "जनतन्त्र के विकास से शांतिवाद का विकास और युद्ध की समाप्ति", "विश्व-न्यायालय तथा यूरोपीय संघ में युद्ध को रोकने की शक्ति मानना" इत्यादि। मानव प्रकृति की उपेक्षा करने वाले बुद्धिजीवियों के अनुमानों, घोषणाओं आदि को भी युद्ध ने मिथ्या सिद्ध कर दिया था। श्री अरविन्द के अनुसार "जब तक युद्ध मनोवैज्ञानिक रूप से असंभव नहीं हो जाता, तब तक वह रहेगा ही या कुछ दिन के लिए समाप्त भी कर दिया जाए, तो पुनः लौट आएगा।"

श्री अरविन्द महान अदृश्य शक्ति की चर्चा करते हैं जो "अपने अदृश्य स्वरूप एवं प्रच्छन्न लक्ष्य को प्रकाश में लाने के लिए एक गहनतर खोज की प्रतीक्षा कर रही है।" विध्वंस के उपरान्त 'स्वाधीनता' और 'एकता' के महत्त्वपूर्ण मानवीय आदर्शों को उपलब्ध करने के युग के आगमन का श्री अरविन्द विश्वास दिलाते हैं किन्तु इसके लिए वे आध्यात्मिक जीवन जीने को आवश्यक शर्त मानते हैं—"यदि हमें भगवान के राज्य को मनुष्य-जाति में स्थापित करना है तो हमें सबसे पहले भगवान को जानना होगा तथा अपने अन्दर अपनी सत्ता के दिव्यतर सत्य को देखना और उसके अनुसार आचरण करना होगा। अन्यथा बुद्धि की रचनाओं और कार्य-क्षमता की वैज्ञानिक प्रणालियों को नए कौशल से—जो भूतकाल में असफल रह चुकी हैं—सत्य की स्थापना की आशा कैसे की जा सकती है?" किन्तु निराशा की बात नहीं है यद्यपि मानव-मन अभी नए युग के लिए तैयार नहीं हुआ है क्योंकि "भविष्य उन व्यक्तियों और राष्ट्रों के हाथों में है जो तीव्र प्रकाश और संध्या-कालीन अंधकार दोनों के परे जाकर ऊषा के देवताओं को देखते हैं और अपने आपको उस शक्ति का उपयुक्त यंत्र बनाने के लिए तैयार होते हैं जो एक महत्तर आदर्श के आलोक की ओर बढ़ रही है।"

श्री अरविन्द आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को राजनीतिक वातावरण से चुनकर उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं, क्योंकि वह स्वतन्त्रता का भाव लिए है। वे यांत्रिक स्वतन्त्रता को पाने के मानवी प्रयत्नों से मिली 'सापेक्षित स्वतन्त्रता' का कपट उद्घाटित करते हैं। वे जीवन को विचार की अपेक्षा "आत्मा से, आंतरिक सत्ता से" शासित करने की आवश्यकता बताते हैं और कहते हैं कि "यही वह सच्चा और गहनतर अर्थ है जिसे आत्मनिर्णय के विचार के साथ हमें जोड़ना सीखना होगा, क्योंकि यह स्वाधीनता का प्रभावकारी सिद्धान्त है।" श्री अरविन्द के अनु-सार आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ यह है कि प्रत्येक मानव में चाहे विकसित हो या अर्धविकसित, स्त्री हो या पुरुष, बालक या युवक या वृद्ध, एक आत्मा का निवास है जो जीवन को पूर्ण बनाने के लिए अपना मार्ग स्वतन्त्रतापूर्वक खोजने का अधिकारी है। अंत में श्री अरविन्द आत्मनिर्णय के इस अर्थ की गंभीर व्याख्या करते हैं।

श्री अरविन्द ने राष्ट्र संघ (लीग आफ नेशंस) की कमियों को बड़ी बारीकी से देखा था। राष्ट्र संघ से बड़ी आशाएं की गई थीं और उससे स्वर्णकाल उद्भूत होगा, यह माना जा रहा था। किन्तु श्री अरविन्द ने स्पष्ट लिखा था—"प्रत्यक्षत: यह वर्तमान मित्र राष्ट्रों और सहायकों के एक संघ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है" अर्थात उसमें विश्व के सभी राष्ट्रों को समाविष्ट करने योग्य सहिष्णुता ही नहीं है। वे इसे एक 'गौण सत्ता' मानते हैं जो पांच बड़ी शक्तियों के हाथों में खेलती रहेगी। यह "अनुमोदन और निर्देशन का कार्यालय है जिसके सामने शक्तिशाली राष्ट्र,

अधिकतर अपने ही निर्णय के अनुसार, संदिग्ध प्रश्न सुलझाने के लिए रखेंगे…।"
श्री अरविन्द ने राष्ट्रसंघ के पालनार्थ कुछ अनिवार्य शर्तों को पूरा करने का भी निर्देश किया था, जैसे सभी राष्ट्रों को स्वेच्छा से राष्ट्रसंघ में सम्मिलित करने के लिए तैयार करना, न्याय और सत्यता पर अपनी कार्य-प्रणाली को आधारित करना, संघ के संविधान को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को विश्वसनीय रूप से सुलझाने के लिए सक्षम वनाना, और तदर्थ "एक ऐसी स्थायी, केन्द्रीय और शक्तिशाली सत्ता का निर्माण · जिसे सभी राष्ट्र सरलता से मान्य करें तथा जिसे मानव जाति की सामूहिक सत्ता के स्वाभाविक नायक और विश्वसनीय सक्रिय अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर सकें।"

श्री अरविन्द ने राष्ट्र-संघ के खोखले स्वरूप को तभी समझ लिया था। इसीलिए उनके स्पष्ट शब्दों में—"एक ऐसा राष्ट्र संघ, जिसे विश्व में सच्ची शांति लानी है, न्याय का आरंभ करना है और सुव्यवस्थित सौजन्य को वढ़ाना है, एक चीज़ है, और मित्र सरकारों की अपनी उत्तरदायित्वहीन इच्छा को पीड़ित और असंतुष्ट यूरोप, एशिया और अफ्रीका पर लादने वाली गुप्त सभा दूसरी चीज़। जव तक एक है, दूसरे को अस्तित्व में लाना संभव नहीं।"

श्री अरविन्द का निवन्ध 'युद्ध के पश्चात' (आफ्टर दि वार) 'आर्य' पत्रिका के १५ अगस्त १९२० के अंक में प्रकाशित हुआ था। महाविध्वंसी विश्वयुद्ध की समाप्ति के कुछ समय पश्चात लिखे गए इस निवन्ध के समय विश्व में "भारी वौद्धिक व नैतिक दिवालियापन, वड़ा खोखलापन और विषाद" अनुभव किया जा रहा था। विश्वशान्ति का स्वप्न दिखाने वाली 'लीग आफ नेशन्स' पूर्णतया असफल सिद्ध हो चुकी थी। इस अवसर पर श्री अरविन्द ने यह स्पष्ट वताया है कि इस युद्ध से समाजवाद व पूंजीवाद के मध्य वढ़ते संघर्ष और आक्रामक यूरोप व पुनरुत्थानशील एशिया के मध्य वढ़ते संघर्ष का चरम अवस्था की ओर वढ़ना निश्चित है।

श्री अरविन्द ने समाजवाद के वढ़ते प्रभाव को स्पष्ट किया है। "…संसार की आर्थिक दशा प्रतिवर्ष विगड़ रही है, न कि अच्छी हो रही है और यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि न केवल पूंजीवाद की नैतिक साख समाप्त हो गयी है अपितु यह भी कि उसमें स्वयं उठाई गई व प्रमुखता प्राप्त कर गई भौतिक समस्याओं का समाधान करने की क्षमता नहीं है और पूंजीवाद प्रत्येक अन्य समाधान का मार्ग भी रोकता है। इस गतिरोध में प्रत्येक वर्ष समाजवादी विचारों की शक्ति और उसके अनुयायियों की संख्या, गुण व उग्र उत्साह में अत्यधिक वृद्धि हुई है।" रूस की साम्यवादी सरकार से भावी विश्व पर पड़ने वाले प्रभाव का श्री अरविन्द ने संकेत किया है। रूस में साम्यवादियों द्वारा साम्यवाद का क्रांतिकारी प्रयोग करने, नये प्रकार की सरकार वनाने और एक पूर्णतया नये सामाजिक जीवन की

स्थापना में शक्ति लगाने को श्री अरविन्द ने एक महान राष्ट्र का, जो मानवता के भावी नेताओं में से एक दिखाई देता है, साहस पूर्ण पग" कहा है। "निष्ठा व साहस के इतने बड़े कार्य ही मानव-प्रगति का मार्ग देते हैं या उसकी गति तीव्र कर देते हैं···यह एक निश्चित लक्षण इस बात का है कि एक सभ्यता की एक स्थिति समाप्तप्राय है और कालपुरुष एक नयी स्थिति, एक नयी व्यवस्था की तैयारी कर रहा है।"

एशियाई अशांति का भी श्री अरविन्द ने बड़ी पटुता से विवेचन किया है। वे एशिया की स्वतन्त्र प्रकृति जानते हैं। उनके शब्दों में—"यह विश्वास करना कठिन है कि एशिया एक बार विचार, कर्म और जीवन की स्वतन्त्रता पाने पर केवल अतीत के अनुकरण पर यूरोप के वर्तमान विकास का अनुकरण करने से संतुष्ट हो जाएगा।" यूरोप की पूंजीवादी सरकारें एशियाई असंतोष को देखकर "बाहर से तो छूट किन्तु सिद्धान्त में उसकी अस्वीकृति की नीति अपनाए हुए हैं" जिसका परिणाम अन्ततः यूरोपीय सरकारों को ही हानिकारक होगा। "···एक बड़े महाद्वीप का पुनरुत्थान इस प्रकार दबाकर नहीं रखा जा सकता।"

समाजवादी संस्थान व समाजवादी सरकार द्वारा एशिया के पुनरुत्थान में नैतिक सहायता दी जा रही है, यह बताने के पश्चात भी श्री अरविन्द एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—"समाजवादी समाज का विकास और एशिया का पुनरुत्थान बड़े परिवर्तन लाएंगे ही और फिर भी उनके द्वारा विशालतर मानव आशा की पूर्ति न हो, यह संभव हो सकता है। समाजवाद से मानव-जीवन में अधिक समानता तथा अधिक समीपता आ सकती है किन्तु यह भौतिक परिवर्तन मात्र है और इसमें अन्य आवश्यकताएं छूट सकती हैं···और इससे मानवता का मशीनी बोझा बढ़ सकता है···एशिया का पुनरुत्थान भी, यदि अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन का सुधार या स्थानांतरण मात्र है तब तो यह पुराने क्रम में ही एक पग मात्र होगा न कि पुनरुद्धार···।"

श्री अरविन्द आध्यात्मिक परिवर्तन द्वारा ही विश्व में सर्वत्र स्वतन्त्रता, समानता और एकता की उपलब्धि को संभव बताते हैं और यूरोप व एशिया के दोनों मनों से समन्वित मन की निर्मिति को ही विश्व की आशा बताते हैं। और यह भी आशा व्यक्त करते हैं कि "हो सकता है जैसे विभिन्न तत्त्वों के मिश्रण से कोई अपूर्व वस्तु उभरती है, वैसे ही प्रकृति में अभी तक अज्ञात और अतीत की प्रयोगशाला में अभी तक न तैयार कुछ अधिक महान व अज्ञात कोई छिपी वस्तु प्रकट हो" जो वर्तमान समस्याओं का समाधान भी हो।

यह स्वाभाविक है कि आज का पाठक पचास वर्ष से भी अधिक पहले लिखे गए इस निबन्ध की भविष्यवाणी को आज सत्य पाकर श्री अरविन्द की दूरदृष्टि पर सहज ही मुग्ध हो जाए।

२४. भावी कविता

श्री अरविन्द की कृति 'भावी कविता' (दि फ्यूचर पोइट्री) का पुस्तकाकार प्रकाशन सर्वप्रथम १९५३ में पांडीचेरी के श्री अरविन्द आश्रम से हुआ था। किंतु वस्तुतः यह 'आर्य' में दिसम्वर १९१७ से जुलाई १९२० तक प्रकाशित उन निवन्धों का परिवर्धित तथा संशोधित संकलन ही था जो श्री जेम्स कज़िन्स की कृति 'न्यू वेज़ इन इंग्लिश लिट्रेचर' की समीक्षा करते हुए श्री अरविन्द ने भावी कविता की रूपरेखा निर्धारित करते हुए लिखे थे। इसके नवीनतम संस्करण में श्री अरविन्द की कृति के वत्तीस अध्यायों के पश्चात उनके साहित्य व कला से सम्वन्धित विविध पत्रों के अंश भी समाविष्ट कर दिए गए हैं। इन निवन्धों के अध्ययन से सहज ही श्री अरविन्द के गंभीर साहित्य-मंथन, उत्कृष्ट समीक्षा-क्षमता तथा दूरदृष्टि की सामर्थ्य का सुप्रभाव पाठक पर पड़ता है। श्री अरविन्द ने यदि इसमें अपनी योजना के अनुसार तात्त्विक कवियों पर एक अध्याय 'दि मेटाफिजिकल पोइट्स' जोड़ पाया होता तो पुस्तक की उपयोगिता और भी वढ़ गई होती।

'भावी कविता' एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है जिसमें अंग्रेजी काव्य का इतिहास, अंग्रेजी काव्य की सौन्दर्य-शास्त्रीय समीक्षा, आधुनिक साहित्य की गतिविधि तथा कुछ स्थायी महत्त्व के विषयों का भव्य विवेचन किया गया है। प्रथम अध्याय प्रस्तावना मात्र है जिसमें कज़िन्स की कृति का पर्याप्त प्रशंसापूर्ण तथा कहीं-कहीं आलोचना-पूर्ण परिचय कराया गया है। श्री अरविन्द को इस कृति से एक विचार मिला, एक संभावनापरक विचार कि भावी कविता 'मंत्र' का रूप ले सकती है, एक लयपूर्ण वाणी का जो द्रष्टा के हृदय से तथा सत्य के धाम से एक साथ उद्भूत हो, जो शब्द और कार्य की अनित्यता के पीछे वर्तमान नित्य यथार्थता को व्यक्त करती हो। वेद की कविता ऐसी ही कविता है। मानव-मन के सर्वोच्च विकास के क्षण में ऐसी कविता अतीत में अनेक वार दिव्य संभावनाओं को प्रकट करती अवतरित हुई है और भविष्य में अधिक प्रयत्नपूर्वक उसकी रचना की संभावना श्री अरविंद को प्रतीत होती है।

द्वितीय अध्याय 'काव्य का सारतत्त्व' में श्री अरविन्द ने वताया है कि काव्यानन्द का प्राप्तकर्ता या रचयिता न तो वुद्धि को कहा जा सकता है, न कल्पना को,

न कान को। वास्तविक रचयिता भी और श्रोता भी 'आत्मा' ही है, बुद्धि आदि तो उसके मार्ग व उपकरण मात्र हैं। अतः काव्य का सर्वोच्च लक्ष्य आत्मा को दिव्य आनन्द प्रदान करना है जो मनोरंजन नहीं अपितु "महान रचनात्मक और प्रकाशक शक्ति" है। वाणी से अभिव्यक्त सभी में (चाहे वह बौद्धिक विचार हो या मानसिक आवेग) एक तो बाह्य तत्त्व मिलता है जो उपकरणात्मक होता है और दूसरा यथार्थ तत्त्व मिलता है जो आध्यात्मिक होता है। कवि की वाणी भी जीवन या प्रकृति का जो सत्य अभिव्यक्त करती है, वह सत्य सुन्दर भी है और नित्य आनन्द भी क्योंकि "वह शब्द के पीछे के आत्मदर्शन के दबाव से प्राप्त होता है"; और क्योंकि "वह इन आन्तरिक व बाह्य लोकों में नाम-रूप के माया-द्वीपों में आत्मान्वेषण की लयपूर्ण यात्रा का आध्यात्मिक आनन्द है।"

तृतीय अध्याय में श्री अरविन्द ने काव्य में लय व गति के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार 'छन्द' का अपना महत्त्व है और उस आधुनिक प्रवृत्ति को जो छन्द को बन्धन मानती है, कृत्रिम मानती है, वे उचित नहीं मानते—"मुझे लगता है कि यह ऐसा विचार है जो अन्ततः टिक नहीं पाएगा क्योंकि यह टिकने योग्य ही नहीं है।" प्राचीन भारत में दर्शन, विज्ञान इत्यादि को भी छन्दबद्ध रूप में रखने की बात भारतीयों ने केवल इसलिए पसन्द नहीं की थी कि पद्यबद्ध होने पर उन्हें कण्ठाग्र करना संभव होगा क्योंकि गद्य में लिखे गए विशाल ब्राह्मण-ग्रंथों को भी वे कण्ठाग्र कर सके थे। वस्तुतः कारण यही था कि वे जानते थे कि छन्दोबद्ध रचना अधिक स्वाभाविक शक्ति से युक्त होती है और शब्दों को अधिक उच्च अर्थ प्रदान करने में सक्षम होती है। कवि का शब्द अपनी लयात्मकता में आत्मिक लय को जागृत करता है और आत्मिक संगीत में आत्मा आनन्दातिरेक से निमग्न हो जाती है।

चौथे अध्याय में श्री अरविन्द ने शैली और वस्तु-सामग्री पर विचार किया है। उनके शब्दों में—"समस्त सच्ची कला के समान काव्य का उद्देश्य भी प्रकृति का फोटोग्राफ जैसा या अन्य प्रकार से यथार्थतापरक अनुकरण करना नहीं है, न रोमांटिक चमक उत्पन्न करना व चित्रण करना या उसके बिम्ब का आदर्शवादी सुधार करना है, अपितु अपनी सृष्टि के एक नहीं, अनेक तलों पर उसके द्वारा हमारे सम्मुख प्रस्तुत किए गए बिम्बों के द्वारा उसकी व्याख्या करना है जिसे वह हमसे छिपाए हुए है परन्तु जब ठीक प्रकार से पहुंच की जाए तो जिसको प्रकट करने को भी वह तैयार रहती है।"

प्रायः ऐसी कविता की शैली उसकी वस्तु-सामग्री के अनुरूप हुआ करती है किन्तु सर्वोच्च कविता जो घनीभूत आनन्द प्रदान करती है, किसी शैली से बंधी नहीं होती—वह शेक्सपियर और कालिदास के सदृश अलंकृत शैली में भी रखी जा सकती है और सीधी-सादी भाषा में भी क्योंकि "यह शैली मात्र नहीं है अपितु

काव्य-शैली है अर्थात शब्द मात्र। यह अपने तत्त्वों की स्वयं रचना करती है और उन्हें साथ ले चलती है, उनके द्वारा इसकी रचना नहीं होती। इसके बाह्य रूप कुछ भी हों, मंत्र के लिए एक ही उपयुक्त शैली होती है।" ठीक शब्द को प्राप्त कर लेना ही वह शैली है जो मंत्र के लिए उपयुक्त है।

पंचम अध्याय में श्री अरविन्द ने 'कवि-दृष्टि तथा मंत्र' पर प्रकाश डाला है। कवि द्रष्टा होता है। अतः महानतम कवि सदैव वे ही हुए हैं, जो प्रकृति, जीवन और मानव की विशाल व समर्थ व्याख्याक्षम और अन्तर्ज्ञानात्मक दृष्टि प्राप्त थे और जिनका काव्य इसकी परम उद्घाटक अभिव्यक्ति से उद्भूत हुआ। होमर, शेक्सपियर, दान्ते, वाल्मीकि और कालिदास अन्य बातों में परस्पर कितने भी भिन्न क्यों न हों, उनकी महानता के आधारभूत वैशिष्ट्य के रूप में यह समानता उनमें अवश्य है।"

आज कविता में विचार का जो मूल माना जाने लगा है, और कवीन्द्र रवीन्द्र इत्यादि के सन्देश की जो बात कही जाती है, उससे तो यह प्रतीत होता है कि हम कवि को दार्शनिक या पैगम्बर या शिक्षक या प्रचारक जैसा कुछ मानते हैं। छन्दों पर उसका अधिकार है या वह बिम्ब रचना की क्षमता रखता है, इसलिए अपने बौद्धिक जीवन-दर्शन को कविता में ठूंस दे, यह श्री अरविन्द को अभीप्ट नहीं है क्योंकि "द्रष्टा कवि दार्शनिक या पैगम्बर से भिन्न प्रकार से देखता है, भिन्नप्रकार से सोचता है, भिन्न प्रकार से आत्म-अभिव्यक्ति करता है। पैगम्बर सत्य को परमात्मा की वाणी या आदेश के रूप में घोषित करता है और वह स्वयं सन्देशवाहक होता है। कवि हमें सत्य को उसकी सौन्दर्य-शक्ति में, उसके प्रतीक या बिम्ब में दिखाता है या प्रकृति के कार्यों में या जीवन के कार्यों में उसे प्रकट करता है,... उसका स्पष्ट वक्ता बनने की उसे आवश्यकता नहीं होती।" दार्शनिक तो सत्य के विविध पक्षों को बौद्धिक सम्बन्ध से जोड़ने का कार्य करता है किन्तु कवि सत्य के विविध पक्षों का सजीव सम्बन्ध प्रस्तुत करता है। कवि की दृष्टि दार्शनिक की दृष्टि नहीं है, न समाज-शास्त्री की, न राजनीतिज्ञ की अपितु वह है जीवन की आत्म-दृष्टि। श्री अरविन्द के अनुसार वाणी और लय की उच्च शक्तियों के साथ यह जो दृष्टि है, वही महान कवि का निर्माण तो करती है परन्तु यह कवि-दृष्टि कुछ अन्य बातों पर भी निर्भर करती है—"और यह कवि की वैयक्तिक दृष्टि-क्षमता पर ही निर्भर नहीं है अपितु कवि के देश और काल के मन पर, उसके चिंतन व अनुभव के स्तर पर, उसके प्रतीकों की उपयुक्तता पर, उसके आध्यात्मिक विकास की गहराई पर।" एक अधिक महान युग का सामान्य कवि भी कभी-कभी ऐसा उत्कृष्ट काव्य रच सकता है जो कम विकसित युग के उत्तम कवियों की टक्कर का या उससे बढ़कर हो।

छठे अध्याय में श्री अरविन्द ने काव्य के राष्ट्रीय विकास पर विचार प्रकट

किए हैं। श्री अरविन्द के अनुसार कवि की रचना उसके राष्ट्र की प्रकृति तथ उसके आध्यात्मिक, बौद्धिक, सौन्दर्यपरक इत्यादि परम्पराओं तथा उनसे निर्मि वातावरण पर भी निर्भर करती है। प्रत्येक राष्ट्र एक आत्मा होता है और उस काव्य, कला आदि उसी की अभिव्यक्ति अथवा उसकी भावी संभावनाओं व अभिव्यक्ति होते हैं। सभी कवि और उनका काव्य इस राष्ट्रीय विकास का ए अंग होते हैं। यह भी सच है कि "वे राष्ट्रीय मन के तत्कालीन स्वभाव और बाह्य रूपों से सीमित नहीं होते, वे उनका अतिरेक कर सकते हैं। कवि की आत्मा नक्षत्र के समान हो सकती है और पृथक रह सकती है; यही नहीं उसका काव्य भी राष्ट्रीय मन की सीमाओं से भिन्न ही नहीं, उनके प्रति विद्रोह भी दिखाई पड़ सकता है। किन्तु तो भी उसके व्यक्तित्व की जड़ें राष्ट्र-आत्मा में ही होती है और उसकी विभिन्नता व विद्रोह भी किसी छिपी हुई या दबी हुई वस्तु या कम-से-कम ऐसी वस्तु को, जो गुप्त सर्व-आत्मा से राष्ट्र-आत्मा में प्रवाहित होने को प्रयत्नशील है, प्रकट करने का प्रयत्न मात्र होते हैं।"

तदनंतर श्री अरविन्द ने अनेक अध्यायों में अंग्रेजी काव्य का प्रारम्भ से ह्विट-मैन व यीट्स तक सर्वेक्षण किया है—सातवें व आठवें अध्यायों में उसके चरित्र का वर्णन है, नवें से तेरहवें अध्याय तक उसके मार्ग का तथा १४ व १५ में 'आधु-निक साहित्य की गतिविधि' का। तदनंतर तीन अध्यायों (१६ से १८) में प्रारं-भिक कवियों, एक अध्याय में विक्टोरिया युग के कवियों तथा तदनंतर चार अध्यायों (२० से २३) में नयी अंग्रेजी कविता का अनुशीलन किया है। अन्तिम अध्याय से पहले के आठ अध्यायों (१४ से २१) में श्री अरविन्द ने महत्त्वपूर्ण आठ निबन्ध लिखे हैं—'नवजन्म या अपकर्ष ?' 'काव्य की आदर्श आत्मा', 'काव्य-सत्य का सूर्य', 'महत्तर जीवन का प्राण', 'काव्यानंद की आत्मा और सौन्दर्य', 'आत्मा की शक्ति', 'रूप और आत्मा' तथा 'शब्द और आत्मा'।

अंतिम अध्याय 'निष्कर्ष' में श्री अरविन्द ने अपने निबन्धों का सार-संक्षेप अत्यन्त सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार भावी कविता मानव के आध्यात्मिक विचार के आध्यात्मिक साक्षात्कार में सहायक होंगे। आधुनिक मनो-मय मानव का भविष्य विज्ञानमय पुरुष की जाति के रूप में विकसित होना है। यही पृथ्वी पर दिव्य-जीवन की, स्वर्ग की स्थापना होगी। इस अवस्था में मानव के विचार, भाव, कार्य—सभी उच्चतर हो जाएंगे। विश्व व मानव-जीवन का गहरा अर्थ स्पष्ट हो उठेगा। और "जो राष्ट्र अपने जीवन और संस्कृति में इनका अधिक-से-अधिक समावेश तथा उन्हें यथार्थ करने का प्रयत्न करेंगे, वे ही भावी ऊषाकाल के राष्ट्र हैं और किसी भी भाषा या जाति के वे कवि हैं। जो इस दृष्टि के साथ देखते हैं और इसकी अभिव्यक्ति के साथ बोलते हैं, भावी काव्य के रच-यिता होंगे"—निस्सन्देह उस काव्य के जो मंत्र-रूप होगा।

२५. व्यास और वाल्मीकि

'व्यास और वाल्मीकि' नामक कृति १६५६ में श्री अरविन्द की पाण्डुलिपियों से संकलित करके प्रकाशित की गई थी। इसमें 'महाभारत' पर कुछ टिप्पणियों के एक निवन्ध के अतिरिक्त तथा 'महाभारत की समस्या' पर दो प्रकरणों में एक निवन्ध के अतिरिक्त उनके द्वारा महाभारत के अनूदित अंश हैं जिनका उल्लेख इसी पुस्तक में अन्यत्र किया गया है। यह तो व्यास से सम्वन्धित सामग्री है। वाल्मीकि से सम्वन्धित सामग्री केवल वाल्मीकीय रामायण के कुछ अनूदित अंशों का अनुवाद है।

श्री अरविन्द महाभारत-सम्वन्धी उन विदेशी कल्पनाओं को व्यर्थ के अनुमान कहते हैं जिनका 'प्रमाण' थोथा होता है जैसे "महाभारत मूलतः युद्धों का ही वर्णन रहाहोगा", अथवा "वह मूल रूप में ८८०० श्लोकों की ही रचना थी" अथवा "मूल युद्ध तो कौरवों व पांचालों में था, पाण्डवों की कथा वाद में जोड़ दी गई" आदि।

श्री अरविन्द ने व्यास की काव्यशैली का विवेचन करते हुए अनेक वातें कही हैं। अलंकारों पर व्यास ने विलकुल ध्यान नहीं दिया, जो भी उपमाएं आदि हैं, वे अत्यन्त सरल और स्वाभाविक हैं तथा केवल कवि के भाव को स्पष्ट करने में सहायक हैं, स्वयं में उनका अस्तित्व महत्त्वहीन है। वाल्मीकि से व्यास की शैली इस वात से भिन्न है कि उसमें 'शुद्धता, शक्ति, वौद्धिक गरिमा तथा व्यक्तित्व की गरिमा' है। श्री अरविन्द व्यास की शैली की सरलता की वार-वार प्रशंसा करते हैं। वे उनकी वौद्धिकता से भी प्रभावित हैं तथा उनकी कला को उत्कृष्ट मानते हैं।

श्री अरविन्द ने 'महाभारत की समस्या' शीर्षक निवन्ध में एक महत्त्वपूर्ण वात यह कही है कि मूल महाभारत का अनुसन्धान यूरोपीय विद्वान करने में असमर्थ रहेंगे क्योंकि उनकी इस सम्वन्ध में कोई अन्य योग्यता नहीं है, अतिरिक्त इसके कि वे अथक अन्वेषण तथा विन्यास की शक्ति रखते हैं। भारतीय विद्वानों में जो अनासक्ति की क्षमता है तथा पुराने विचारों को भी सत्य व प्रमाण से टकराने पर छोड़ने की क्षमता है, वह यूरोप में नहीं मिलती। यही नहीं, भारतीय विद्वानों के लिए संस्कृत के शव्द जीवित शव्द हैं, मृत नहीं और वे उनकी आत्मा से परिचित हैं।

२६. कालिदास

श्री अरविन्द कृत 'कालिदास' नामक ग्रन्थ जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है, वस्तुतः उनके निम्नलिखित निबन्धों का संकलन है—

प्रथम भाग—		१. कालिदास का युग
		२. कालिदास कृत 'ऋतुसंहार'
द्वितीय भाग—	खण्ड १.	३. हिन्दू नाटक
		४. कालिदास—ऐतिहासिक विधि
		५. कालिदास के अनुवाद के विषय में
	खण्ड २.	६. पुरुरवा
		७. उर्वशी
		८. गौण पात्र
		९. अप्सराएं
	खण्ड ३.	१०. मालविकाग्निमित्र

१. कालिदास का युग

श्री अरविन्द ने 'कालिदास का युग' में वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के युगों में, वृत्तियों व व्यक्तित्वों की विशेषताओं का सुन्दर विवेचन किया है। प्रारम्भिक पंक्तियां भी अत्यन्त मनोहारी हैं—

"वाल्मीकि, व्यास और कालिदास प्राचीन भारत के इतिहास का सार हैं। यदि शेष सब खो भी जाए, तो भी वे अकेले ही और पर्याप्त रूप से हमारा सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करेंगे। उनकी कविताएं मानव-आत्मा के विकास में तीन युगों के प्रकार और प्रतिनिधि हैं…।"

श्री अरविन्द ने वताया है कि आर्य जाति के इतिहास में तीन युगों में वाल्मीकि, नैतिकता-प्रधान युग के, व्यास वौद्धिकता-प्रधान युग के और कालिदास भौतिकता-प्रधान युग के हैं। नैतिकता, बौद्धिकता और भौतिकता का समन्वय आध्यात्मिकता प्रधान चतुर्थ युग में होता किन्तु तव तक विदेशी आक्रमणों का प्रारम्भ हो गया। अवश्य ही ये तीनों संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों में स्थान रखते हैं और विश्व-

प्रसिद्ध महाकवियों के स्थान होकर शेक्सपियर और दान्ते से तुलनीय हैं।

कालिदास उस युग में हुए जब नैतिकता और बौद्धिकता बौद्ध मत में अपने सर्वोच्च शिखर पर आसीन हो चुकी थी और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी हो चुकी थी और इस समय तो शास्त्र-निर्माण का युग था। दर्शन, नैतिकता, ज्ञान—सभी शास्त्रबद्ध हो रहे थे। एक ओर यह विद्वानों, साहित्यकारों, तार्किकों, दार्शनिक आचार्यों का युग था और दूसरी ओर राष्ट्र का सर्जनात्मक और सौन्दर्यपरक उत्साह, भौतिक वस्तुओं, ऐन्द्रिक जीवन और जीवन के अभिमान व सौन्दर्य पर छा रहा था।

किन्तु इस युग की विशेषताओं को बौद्धों व ग्रीकों से प्रेरित कहना श्री अरविंद को स्वीकार नहीं है क्योंकि बौद्ध तो युग की प्रवृत्तियों को जन्म देने के स्थान पर स्वयं ही उनके भागी रहे हैं और "अभी ग्रीकों वाला सिद्धान्त तो न्यूनतम तथ्यों से अधिकतम निष्कर्ष निकालता दिखाई देता है।" वस्तुतः इस युग में ऐसा कुछ नहीं था जिसके बीज पहले भारत में दिखाई न देते हों क्योंकि स्मृतियां, कला, नाटक योग तथा भौतिक वैभव सभी प्राचीन भारत में विद्यमान थे। कालिदास के युग की विशेषता यही थी कि पहले यह सब अधिक ऊंचे आदर्शों की आधीनता में थे किन्तु अब वे उनके ऊपर छा गये थे और सर्वोच्च हो गये थे और जाति की सर्वोत्तम शक्तियों को व्याप्त कर रहे थे और जातीय जीवन-चेतना पर अपनी छाप लगा रहे थे। और इस प्रकार यह युग था बाह्याचारपूर्ण तत्त्वदर्शन का, विज्ञान का, विधि का, कला और कलाओं के सहगामी ऐन्द्रिक विलास का।

महाकवि कालिदास इस युग के उत्तरार्द्ध में हुए थे। तब भारत उपनिषदों से पुराणों की ओर, वेदान्त वा सांख्य से योग की ओर, नीरस तर्क से भक्ति की ओर चला जा रहा था। कालिदास की शेक्सपियर से समता बताते हुए श्री अरविन्द ने कहा है—"उनमें व शेक्सपियर में कुछ समानताएं हैं। उन समानताओं में एक यह भी है कि शेक्सपियर के समान ही उन्होंने आसन्न भूतकाल को वर्तमान की पदावली में प्रस्तुत किया है और कहीं-कहीं पर वर्तमान को भावी के संकेतों से अवगत कराया। शेक्सपियर के समान ही उन्होंने भी धर्म की अधिक चिन्ता नहीं की।...उनकी कृतियों में उच्चादर्श और उच्च विचार की प्रशंसा है परन्तु यह प्रशंसा सौन्दर्यपरक है। कालिदास में उच्चता और उदात्तता के साथ सभी महान शक्तिशाली वस्तुओं के प्रति स्वाभाविक आभिजात्य-भावना का दर्शन होता है किंतु उनमें लालित्य, सौन्दर्य और सुडौलता उदात्त है अतः उनका काव्य कहीं भी वाल्मीकि और व्यास के समान वीर-चरित्र या आभिजात या गंभीर स्वभाव को ढालने के लिए महान गतिशील बल से युक्त नहीं है। इन सब में वह अपनी युगीन उच्च प्राणशक्ति से परिपूर्ण और भौतिक सभ्यता का ही प्रतिनिधित्व करते थे।"

कालिदास में ऐन्द्रिक आवेग और सौन्दर्य-भावना का गतिशील बल है, इसलिए

वह विश्व के महानतम कवियों में हैं। वे भाषा और ध्वनि के स्वामी हैं और उनकी शैली में संक्षिप्तता, गंभीरता और भावुकता सर्वत्र मिलती है। उनके 'कुमारसंभव' में हमें युग की पूर्ण प्रधानता का दर्शन होता है। उनका अपूर्ण कुमारसंभव उतना ही ऊंचा है जितना अंग्रेजी साहित्य में 'पैराडाइज़ लास्ट'। शिव-पार्वती-विवाह में पुरुष-प्रकृति का मूल विचार तो है ही, आत्मा द्वारा परमात्मा की खोज भी प्रतीक रूप में ही वर्णित है। उनके युग के अन्य कवियों ने भी अपने समय का पूर्ण चित्रण नहीं किया। यह श्रेय केवल कालिदास को ही है। "उस युग की प्रवृत्तियों की परिपक्व काव्याभिव्यक्ति उनकी सभी कृतियों में हुई है। जिन्होंने अपने युग के इतने पक्षों को लेखबद्ध किया, अवश्य ही युग के प्रतीतार्थ प्रतीक हैं, ठीक वैसे ही जैसे व्यास भारतीय सभ्यता के, बौद्धिकता के और वाल्मीकि इसकी नैतिकता के।

२. कालिदास कृत 'ऋतुसंहार'

इस निबन्ध में तीन लेख हैं जिनमें क्रमशः ऋतुसंहार के कृतिकार के रूप में कालिदास की प्रामाणिकता, कविता के सार तथा कविता के भावनात्मक मूल्यांकन पर विचार किया गया है। श्री अरविन्द के अनुसार यह कालिदास की ही कृति है। इसमें योजना-विहीनता, दुष्कृष्टता, कल्पना में कहीं-कहीं अपरिपक्वता आदि देखने को मिलते हैं परन्तु कालिदास की अन्य कृतियों के गुण भी दिखाई पड़ते हैं जैसे उनकी अवलोकन शक्ति, शैली-रचना, ऐन्द्रिकता, उपमाओं का विशेष प्रकार, वर्णन का निजी और अनुकरण न कर पाने योग्य ढंग।"

३. हिन्दू नाटक

इस रोचक निबन्ध में श्री अरविन्द ने हिन्दू नाटकों व काव्यों की विशेषताओं को प्रकाशित किया है। हिन्दू नाटकों में जीवन और चरित्र का सौन्दर्य-भावना के कारण चित्रण किया जाता है न कि चित्रण, चित्रण के लिए ही। दर्शक की सौन्दर्य-भावना को जगाना उसका लक्ष्य है और उसके लिए सूक्ष्म दृष्टि से देखी गई मानव भावनाओं की चित्रण-कला को माध्यम बनाया जाता है। यूरोपीय पद्धति से भय व आतंक को प्रस्तुत करना हिन्दुओं को बर्बर व अमानवीय प्रतीत होता है—इसका कारण हिन्दू प्रकृति की कोमलता भी है और यह सिद्धान्त भी कि "समस्त काव्य-कला का प्रथम उद्देश्य है सौन्दर्यात्मक बौद्धिक आनंद की प्राप्ति।" हिन्दू नाटक में दुख, शोक, आदि का चित्रण तो होता ही है परन्तु अन्त में आनंद व शान्ति की प्राप्ति के साथ, क्योंकि इससे आत्मा को शक्ति मिलती है।

विद्वानों का यह विचार कि भारतीय नाटकों में चरित्र-चित्रण की कला का अभाव है, सर्वमान्य नहीं है। अभी इस पर जोरों का विवाद है। श्री अरविन्द के अनुसार इस विवाद के मूल में राष्ट्रीय वैशिष्ट्य है। औसत अंग्रेज उन्हीं पात्रों की

प्रशंसा करता है जो सशक्त कर्म या शक्तिशाली भाषा में अभिव्यक्त हुए हैं। इसका कारण यह है कि "यूरोप के राष्ट्र, सामूहिक रूप से अभी भी अर्धसभ्य हैं। उनके मन, जीवन के भौतिक, बाह्य और स्थूल रूप से प्रमुख कारणों में ही रमते हैं। और, जहां चमक-दमक न हो वहां उस व्यक्ति को चरित्र-रहित कह दिया जाता है। किन्तु हिन्दू का सुसंस्कृत और अधिक कलात्मक मन कर्म में हिंसा, अधिक बोलने व दिखावटी बातों को पसन्द नहीं करता और नायक से अधिक उत्कृष्ट व्यवहार—मिताचार और मितभाषण—की आशा करता है। पाश्चात्य लोग महाभारत में 'भीम' को सचमुच चरित्र कहेंगे पर हिन्दू के लिए राम का पिता के वचन-पालनार्थ साम्राज्य-त्याग उतना ही महान है जितना शक्तिशाली भीम के द्वारा कीचक-वध।

भारतीय नाटकों को प्रायः एलिजाबेथीय नाटकों के सदृश कहा जाता है। दोनों में अन्तर यह है कि एलिजाबेथीय नाटकों की रचना जन-साधारण के लिए हुई थी किन्तु भारतीय नाटकों की रचना सुसंस्कृत, सुशिक्षित तथा नाट्यशास्त्र के रसिक दर्शकों के लिए। और इस कारण दोनों के चित्रण में अन्तर है। यूरोपीय आक्षेपों से भारतीयों को हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह राष्ट्रीय अन्तरों के कारण की गई एकांगी समीक्षा है। हिन्दू नाटकों में 'राजा लियर' या मैकबैथ जैसे पात्रों की खोज निरर्थक है क्योंकि हिन्दू नाटकों ने ऐसे चित्रों के द्वारा आत्मा के नैतिक वातावरण को विषाक्त नहीं किया है। "समीक्षा की सच्ची भावना तो यह है कि हम किसी साहित्य में जो महान या सुन्दर है उसकी खोज करें न कि उसमें वह मांगें जो उसे देना ही नहीं है।"

४. कालिदास—ऐतिहासिक विधि

श्री अरविन्द का यह निबन्ध भी अत्यन्त रोचक है। इस निबन्ध में वे कहते हैं कि भारत के तीन सर्वोच्च महाकवियों —वाल्मीकि, व्यास और कालिदास— के व्यक्तिगत जीवन के विषय में हम बहुत कम जानते हैं—"वे अपनी रचनाओं के अतिरिक्त नाममात्र हैं, और कुछ नहीं।"

कालिदास कहां के थे, किस राजा के आश्रित थे, कौन उनके शत्रु, मित्र थे, इत्यादि बातों को जानना ऐतिहासिक विधि है। परन्तु कालिदास के विषय में यह सब ज्ञात न होना सौभाग्य की ही बात है क्योंकि इस सब जानकारी के अभाव में हम उनकी कृतियों के प्रभाव का स्पष्ट और ठीक मूल्यांकन कर सकते हैं। श्री अर-विन्द ने वस्तुतः इस निबन्ध में ऐतिहासिक विधि के दुष्परिणामों को दरशाया है।

५. कालिदास के अनुवाद के विषय में

श्री अरविन्द ने इस निबन्ध में बताया है कि भारतीय कविता का अंग्रेजी कविता में अनुवाद हो ही नहीं सकता क्योंकि जहां न केसर होता है, न मालिका-

पुष्प, न चक्रवाक, न बिम्बाफल वहां संस्कृत काव्य में उनके प्रयोगों को अंग्रेजी में यथावत लिखने या भारी-भरकम अनुवादों को रख देने से भी भाव-सम्प्रेषण वैसा नहीं होगा। संस्कृत के मुहावरों, वाक्यांशों आदि के विशिष्ट अर्थों को भी अंग्रेजी में कैसे रखा जा सकेगा? कालिदास की कृतियों के अनुवादक के रूप में—श्री अरविन्द ने ऐसी ही कठिनाइयों पर अपने विचार प्रकट किए हैं। यह लेख अनुवादकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

६—९. कालिदास के पात्र—पुरुरवा, उर्वशी, गौणपात्र, अप्सराएं

खण्ड दो के चारों निबन्धों में कालिदास के पात्रों का विवेचन है। उन्होंने कालिदास के सौन्दर्य-चित्रण और नारी-चरित्र-चित्रण की विशिष्ट प्रशंसा की है। चारों निबन्ध ही सुन्दर समीक्षा के उदाहरण हैं।

१०. मालविकाग्निमित्र

खण्ड ३ में मालविकाग्निमित्र नाटक का अधूरा अनुवाद है। यह अनुवाद परि-मार्जित नहीं है—'रफ़-ड्राफ्ट' है परन्तु श्री अरविन्द की भावों की पकड़ तथा उनका भाषा पर अधिकार दर्शनीय है।

२७. विविध कृतियां

(१) निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धान्त

श्री अरविन्द कृत 'निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धान्त' (दि डाक्ट्रिन्स आफ पैसिव रेसिस्टेंस) वस्तुतः 'वन्देमातरम्' पत्र में (९ अप्रैल से २३ अप्रैल १९०७ तक) प्रकाशित सात निवन्धों तथा एक अप्रकाशित (किन्तु प्रकाशनार्थ लिखित) निवन्ध का संकलन है। ये निवन्ध हैं—परिचय, इसका उद्देश्य, इसकी आवश्यकता, इसकी विधियां, इसकी वाध्यताएं, इसकी सीमाएं, निष्कर्ष तथा वहिष्कार की नैतिकता। जिसे आगे चलकर 'सत्याग्रह' के नाम से प्रसिद्धि मिली, वही यहां 'निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धान्त' के नाम से प्रतिपादित है। श्री अरविन्द ने इन निवन्धों में विदेशी शासन को हटाकर 'स्वराज' प्राप्त करने के लिए विदेशी शासन के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध की आवश्यकता वताते हुए उसके अन्तर्गत 'निष्क्रिय प्रतिरोध' की रूपरेखा निर्धारित की थी। उन्होंने कहा था कि "राजशक्ति के समर्थन के विना राष्ट्रीय आत्मविकास संभव ही नहीं है···राजनीतिक स्वातन्त्र्य राष्ट्र का प्राण है, जाति के राजनीतिक स्वातन्त्र्य को प्रथम और सर्वोच्च लक्ष्य वनाए विना सामाजिक सुधार, शैक्षिक सुधार, औद्योगिक विस्तार तथा नैतिक सुधार का प्रयत्न केवल अज्ञान और व्यर्थता की पराकाष्ठा है। ऐसे प्रयत्नों का परिणाम निराशा और असफलता तो होगा ही, परन्तु हम इसका कारण राष्ट्रीय चरित्र में कोई भारी दोष मानने लगते हैं, मानो कि राष्ट्र गलती पर हो न कि इसके वे बुद्धिमान लोग···।" इन बुद्धिमानों का दोष वताते हुए श्री अरविन्द ने लिखा था कि वे सुधार में सफलता पाने के लिए प्रथम आवश्यकता 'स्वतन्त्रता' तथा द्वितीय आवश्यकता 'सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता में व्यक्त राष्ट्रीय संकल्प' से अनभिज्ञ हैं। श्री अरविन्द ने राष्ट्र के आत्म-विकास को विना पर-निर्भरता के अपरिहार्य माना था और परतन्त्रता के काल में उसमें होने वाली कठिनाइयों को सहन करके भी आत्म-विकास के पथ पर बढ़ना आवश्यक कहा था। और इसके लिए धीरे-धीरे सभी क्षेत्रों से विदेशी सत्ता को हटाने के लिए वाध्य करने के उद्देश्य से प्रतिरोध को संगठित करने का सन्देश दिया था। उन्होंने इस सिद्धान्त का उद्देश्य वताते हुए

कहा था—"बीसवीं शताब्दी की नयी राजनीति ने भारत की जनता के समक्ष सरकार की वर्तमान पद्धति के प्रतिरोध में जो उद्देश्य रखा है, वह यह है— थोड़े-बहुत सुधार और पैबन्दों को लाना नहीं अपितु हम पर कुशासन करने वाले निरंकुश शासन तंत्र के स्थान पर एक स्वतन्त्र संवैधानिक व जनतांत्रिक पद्धति की सरकार की स्थापना करना तथा विदेशी नियंत्रण को पूर्णतया हटाना जिससे पूर्ण राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का मार्ग बने।"

श्री अरविन्द ने प्रतिरोध का पहला सिद्धान्त रखा था 'वहिष्कार' और उसकी व्याख्या करते हुए कहा था—"वर्तमान परिस्थितियों में प्रत्येक ऐसा कार्य, जिससे ब्रिटिश वाणिज्य को हमारे देश के शोषण में या ब्रिटिश अधिकारी-वर्ग को देश पर शासन करने में सहायता मिलेगी, करने से तब तक के लिए सुसंगठित 'न' कह दी जाए तब तक जनता की मांग के अनुसार परिस्थितियों में, विधि व सीमा दोनों में ही, परिवर्तन न हो जाए।"

वहिष्कार पांच क्षेत्रों में होना था—आर्थिक वहिष्कार, शैक्षिक वहिष्कार, न्यायालय वहिष्कार, कार्यपालिका-वहिष्कार तथा सामाजिक वहिष्कार। इन सभी वहिष्कारों की निषेधात्मक तथा भावात्मक रूपरेखाएं श्री अरविन्द ने वताई थीं, उदाहरणार्थ आर्थिक क्षेत्र में विदेशी माल का वहिष्कार निषेधात्मक पग होगा और स्वदेशी का प्रयोग भावात्मक।

श्री अरविन्द ने निष्क्रिय प्रतिरोध को सामान्यतया शान्तिपूर्ण ही वताया था—"हम कानून और कार्यपालिका के विरुद्ध शान्तिपूर्ण विधि से सक्रिय रहते हैं, परन्तु कानूनी परिणामों को हम निष्क्रियतापूर्वक स्वीकार करते हैं।" किन्तु फिर भी यहां गांधीजी के अहिंसात्मक सत्याग्रह जैसी अहिंसा की वाध्यता नहीं है, क्योंकि "निष्क्रिय प्रतिरोध की एक सीमा है। जब तक कार्यपालिका का कार्य शान्तिपूर्ण है और युद्ध के नियमों के अन्तर्गत है, निष्क्रिय प्रतिरोधी अपनी निष्क्रियता की वृत्ति ईमानदारी से वनाए रखेगा, किन्तु उससे एक क्षण भी अधिक होने पर वह ऐसा करने को वाध्य नहीं है। वल-प्रयोग के गैरकानूनी या हिंसात्मक उपायों को, अत्याचार और गुंडागर्दी को, देश की कानूनी प्रक्रिया का एक अंग समझ लेना कायर वनना है और राष्ट्र के पौरुष को छोटा करके अपने व मातृभूमि के दिव्यत्व के प्रति पाप करना है। इस प्रकार का वल-प्रयोग होते ही निष्क्रिय प्रतिरोध समाप्त हो जाता है और सक्रिय प्रतिरोध कर्तव्य हो जाता है।··· किन्तु यद्यपि यह निष्क्रिय नहीं है तथापि यह प्रतिरक्षात्मक प्रतिरोध है।"

(२) अतिमानव

श्री अरविन्द के तीन छोटे-छोटे निवन्धों का एक संकलन 'अतिमानव' (दि सुपरमैन) शीर्षक से १९२० में प्रकाशित हुआ था। तीनों निवन्ध पहले 'आर्य'

(१९१५ के मार्च, अप्रैल व अगस्त) में प्रकाशित हो चुके थे। ये निवन्ध हैं—अतिमानव, सर्व-इच्छा तथा स्वतन्त्र-इच्छा, कार्यों का आनन्द। प्रथम निवन्ध में श्री अरविन्द ने 'अतिमानव' के अपने विचार की नीत्शे के आसुरी 'अतिमानव' की कल्पना से भिन्नता वतायी है तथा 'अतिमानव' की दिव्य कल्पना में कैसे प्रेम, ज्ञान, शांति, कर्म इत्यादि का समन्वित भव्य स्वरूप प्रकट होगा, यह भी स्पष्ट किया है। दूसरे निवन्ध में मानव-इच्छा कैसे सर्व अर्थात ब्रह्म की, परमात्मा की, इच्छा वन सकती है और तव कैसे भाग्य की क्रूरता समाप्त हो सकती है, यह दरशाया है। तीसरे निवन्ध में मानव स्वयं को परमात्मा के हाथ का यंत्र वनकर और अन्ततः स्वयं को भगवान अपने से एकरूप देखकर आनन्दमय हो सकता है, यह अत्यन्त सरसता से निरूपित है।

(३) विचार और झलकियां

श्री अरविन्द के सूत्रात्मक विचारों तथा सूक्तियों का कुछ अंश 'आर्य' में प्रकाशित हुआ था जिसका लघु पुस्तकाकार प्रकाशन १९२० में 'विचार और झलकियां' (थाट्स ऐण्ड ग्लिम्प्सिज) के नाम से हुआ था। इसमें प्रारम्भ में 'सूक्तियां' शीर्षक के अन्तर्गत लक्ष्य, सत् का आनन्द, पुरुष, अन्त तथा शृंखला के उपशीर्षकों से अनेक महत्त्वपूर्ण विचार सूक्तियों के रूप में दिए गए हैं और अन्त में 'विचार और झलकियां' शीर्षक से अनेक सुविचार। कृति की प्रारम्भिक सूक्ति है—"जव हम जानने की स्थिति से पार हो लेंगे तभी ज्ञान मिलेगा। तर्कवुद्धि ही सहायक थी, तर्कवुद्धि ही वाधा है।"

कुछ अन्य सूक्तियां भी द्रष्टव्य हैं—"मैं जो कुछ इस समय नहीं कर सकता, वह इस वात का संकेत है कि मैं वाद में क्या करूंगा। असम्भव की भावना ही सभी सम्भावनाओं का प्रारम्भ है…।" "आखिर ईश्वर है क्या? एक शाश्वत वालक जो शाश्वत उपवन में शाश्वत क्रीड़ा में लगा हुआ है।"…"सम्पूर्ण जगत स्वातन्त्र्य के लिए लालायित है तो भी प्रत्येक प्राणी अपनी शृंखलाओं से प्रेम करता है, यह है हमारी प्रकृति की विकट ग्रंथि और प्रथम विरोधोक्ति।"…"सभी धर्मों ने अनेक आत्माओं का उद्धार किया है किन्तु अभी तक कोई भी मानव-जाति का आध्यात्मिकीकरण नहीं कर सका।"

(४) मृतकों का वार्तालाप

'कर्मयोगी' पत्र में प्रकाशित चार नाटकीय संवादों के साथ एक अप्रकाशित संवाद मिलाकर श्री अरविन्द की कृति 'मृतकों का वार्तालाप' (कॉन्वर्सेशन्स आफ दि डेड) एक सरल रचना है। ये पांच वार्तालाप हैं: क्रमशः ईरान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए दीनशाह और परीज़ादी के, यूनान की पृष्ठभूमि

पर प्रकाश डालते हुए तूरियु व ऊरियु के, इटली की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए मैजिनी, शेवर व गेरिबाल्डी के, भारत की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए शिवाजी व जयसिंह के तथा ब्रिटेन की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए लिटिलटन तथा पर्सिवाल के। ये सभी काल्पनिक संवाद मृत्यु के सैंकड़ों वर्षों के पश्चात स्वर्ग में मृतकों के बीच होते हुए अंकित हैं। काव्य, दर्शन, इतिहास, नाटकीयता आदि कितने ही तत्त्वों का इनमें अद्भुत समावेश है। स्थान-स्थान पर श्री अरविन्द का अपना विचारदर्शन स्पष्ट चमक उठता है। उदाहरणार्थ शिवाजी के द्वारा कहे गए ये वाक्य—"अपने चुने हुए सम्राट् के प्रति निष्ठा अच्छी चीज़ है किन्तु अपने राष्ट्र द्वारा चुने हुए सम्राट् के प्रति निष्ठा उससे भी अच्छी है। राजा भगवत्स्वरूप होता है अपने अन्दर अभिव्यक्त भगवान की शक्ति के कारण, परन्तु उसमें यह शक्ति इस कारण आती है कि वह प्रजा का चुना हुआ होता है। राष्ट्र के अन्दर विराजमान भगवा न का ही सेवक राजा होता है।" और "मैंने सब कुछ भगवान को दे डाला और धर्म तक को भी मैंने नहीं रखा। भगवान की इच्छा ही मेरा धर्म थी क्योंकि वही मेरे नायक थे और मैं उनका सिपाही।"

(५) कर्मयोगी का आदर्श

श्री अरविन्द की 'कर्मयोगी' में प्रकाशित 'कर्मयोगी का आदर्श' शीर्षक वाली लेखमाला ही 'कर्मयोगी का आदर्श' (दि आइडियल आफ दि कर्मयोगी) के नाम से सर्वप्रथम १९२१ में पुस्तकाकार प्रकाशित की गई थी। इसमें दस अध्याय हैं—कर्मयोगी का आदर्श, कर्मयोग, दोनों अवस्थाओं में, भारत की जागती हुई आत्मा, वलिदान का सिद्धान्त, विकास की प्रक्रिया, शांति की शक्ति, तीन पुरुष, प्रच्छन्न आत्मा का दवाव तथा व्यक्ति की महत्ता। इन निवन्धों में राष्ट्रीय नवनिर्माण के लिए प्रयत्नशील राष्ट्र-सेवक के कर्मयोगी स्वरूप को उद्बुद्ध करने वाली सामग्री है।

स्वाधीन भारत का लक्ष्य निरूपित करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा था—"हमारा विश्वास है कि योग को मानव-जीवन का आदर्श वनाना ही वह प्रयोजन है, जिसके लिए आज भारत का अभ्युदय हो रहा है। योग से ही वह अपनी स्वाधीनता, एकता और महत्ता को प्राप्त करने की शक्ति पाएगा, योग से वह इन्हें सुरक्षित रखने की शक्ति अपने में स्थिर रखेगा। ऐसी आध्यात्मिक क्रान्ति को ही हमारी भावी दृष्टि देख रही है और भौतिक क्रान्ति तो इसकी छाया एवं प्रतिविम्ब मात्र है।"

(६) पुनर्जन्म की समस्या

श्री अरविन्द की कृति 'पुनर्जन्म की समस्या' (दि प्राब्लम आफ रिबर्थ) 'आर्य' (१९१५, १९१९, १९२०, व १९२१) में प्रकाशित १७ निवन्धों का संक-

लन है जो प्रथम वार १९५२ में प्रकाश में आई थी। इसमें तीन खण्ड हैं। प्रथम में १२ निवन्ध हैं, द्वितीय में ३ तथा तृतीय २। प्रथम खण्ड है 'पुनर्जन्म की समस्या' द्वितीय है 'कर्म की दिशाएं' तथा तृतीय है 'कर्म की उच्चतर दिशाएं'।

श्री अरविन्द की इस कृति में 'पुनर्जन्म' पर गहराई से विचार करते हुए कर्म-सिद्धान्त आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। श्री अरविन्द यह स्वीकार नहीं करते कि पुनर्जन्म पुराने व्यक्तित्व को नई देह देने की प्रकृति-योजना है अपितु वे पुनर्जन्म को आत्मा की अभिव्यक्ति एवं पूर्णता की प्राप्ति के लिए एक उपयोगी योजना मानते हैं। वे पुनर्जन्म को आत्मा की विकास-यात्रा के पड़ाव के रूप में देखते हैं। 'पुनर्जन्म और कर्म' अध्याय में वे कहते हैं—"इस जगत में आत्म-उपलब्धि ही वह सत्य है जो हमारा आधार है, एक महान काल में एक दीर्घ बुनाई अर्थात एक आत्म-रचना। व्यक्ति में उस सूत्र का वना रहना, उस आत्म-उपलब्धि की निरन्तरता ही पुनर्जन्म है। कर्म वह प्रक्रिया है, वल है, भौतिक जगत में शक्ति का कार्य व परिणाम है, एक आन्तर व वाह्य इच्छा है, आत्मा के विकास में एक कार्य है तथा मानसिक, नैतिक व गतिशील परिणाम है जिसका स्थिर दृश्य भौतिक जगत है…।"

(७) श्री अरविन्द की कुछ अन्य कृतियां

श्री अरविन्द के अन्य अनेक निवन्ध जो 'आर्य', 'धर्म' इत्यादि में प्रकाशित हुए थे, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे 'जगन्नाथ का रथ'। श्री अरविन्द-कृत कुछ पुस्तक-समीक्षाएं 'विचार और समीक्षाएं' (व्यूज़ ऐण्ड रिव्यूज़) के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं जिनसे उनके ज्योतिष, कला इत्यादि में रुचि का ही नहीं, ज्ञान का भी परिचय मिलता है तथा अनेक रहस्यपूर्ण वातों का उद्घाटन होता है।

(८) श्री अरविन्द के पत्र

श्री अरविन्द द्वारा सैकड़ों शिष्यों व अन्य साधकों को लिखे गए पत्र भी उनके साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं और श्री अरविन्द-आश्रम तथा अन्य सम्वद्ध प्रकाशनों ने अनेक प्रकार से इन पत्रों में से अनेक की सामग्री को विषयानुसार सँजो कर (उदाहरणार्थ 'लाइट्स आन योग' इत्यादि) अथवा मूल रूप में प्रकाशित किया है। निस्सन्देह श्री अरविन्द विश्व के 'सवसे अधिक पत्रों के लेखक' सरलतया माने जा सकते हैं। इन पत्रों में मानव-जीवन को दिव्य-जीवन में रूपान्तरित करने के लिए आवश्यक महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं। अत्यन्त आत्मीयता, गंभीरता व सरसता से लिखे गए इन पत्रों का विवेचन वस्तुतः एक क्या, अनेक ग्रन्थों का विषय हो सकता है।

२८. निष्कर्ष

इस प्रकार श्री अरविन्द के सम्पूर्ण वाङ्मय के अनेक रत्नों का एक अत्यन्त संक्षिप्त दर्शन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलना स्वाभाविक है कि श्री अरविन्द योगी ही नहीं, अद्भुत मनीषी भी थे। उनके साहित्य में वर्तमान जगत की समस्याओं को हल करने के लिए वहुमूल्य सामग्री है। और किसी भी बुद्धिजीवी को चिन्तन के क्षेत्र में उसने सब कुछ जानने योग्य जान लिया है, इसका दावा करने से पहले श्री अरविन्द के ग्रन्थों का स्वाध्याय कर लेना एक अनिवार्य आवश्यकता है, यह कहा जा सकता है। यहां है एक अतिमानव महापुरुष का विशाल चिन्तन जो उसके अतीन्द्रिय दर्शन के प्रकाश में मानव धरती पर स्वर्ग की स्थापना की पद्धतियां वताता है। रोम्यां रोलां ने उनके जीवन-काल में ही कहा था—

"श्री अरविन्द भारत के विचारकों में सबसे अग्रगण्य हैं और उनसे वौद्धिक और आध्यात्मिक भारत किसी नयी अभिव्यक्ति की आशा कर रहा है। वंगाल के इस पुराने राजनीतिक नेता ने, जो आधुनिक भारत के सवसे महान विचारकों में हैं, पूर्व और पश्चिम के वीच जो पूर्ण समन्वय की कड़ी स्थापित की है; वह आज तक के प्रयत्नों में सर्वोपरि है।···पश्चिम, जिसकी यह परम्परागत मान्यता है कि पूर्व तो निष्क्रिय, अचल और केवल कल्पनावादी है, थोड़े ही दिनों में एक भारतीय को देखकर आश्चर्य में डूब जाएगा जो उसे अपनी प्रगति के पागलपन और विकास में पीछे छोड़ देगा।···श्री अरविन्द घोष को आत्मा की असीम शक्ति तथा मानव-जाति के विकास में एक ऐसा ज्वलन्त विश्वास है जिसकी कोई वरावरी नहीं है। वे योरुप की भौतिक और वैज्ञानिक विजय को तो पूर्णतया स्वीकार करते हैं पर वे उन्हें अन्तिम न मानकर केवल आरम्भ मानते हैं। वे चाहते हैं कि भारत इस क्षेत्र में भी योरोप को पीछे कर दे क्योंकि उनका विश्वास है कि मानव-जाति अपने विकास के एक ऐसे विन्दु पर पहुंच गई है जहां वह अपनी सीमाओं को नए ज्ञान, नयी शक्ति और नयी क्षमता के द्वारा वढ़ाएगी। यह जीवन में वैसी ही क्रांति लाएगी जैसी उन्नीसवीं शताव्दी में भौतिक विज्ञान के द्वारा लाई गई थी। यह क्रान्ति एक आध्यात्मिक विज्ञान के द्वारा लाई जाएगी जो मन को प्रकाशित और नियंत्रित करता है।···महान ऋषियों की क्रम-परम्परा में यह सवसे उत्तर-

कालीन ऋषि अपने विशाल हाथों में निर्माण का धनुष धारण किए हुए है।"

निस्सन्देह रोम्यां रोलां ने उन्हें बहुत कुछ ठीक पहचाना था, परन्तु फिर भी पूर्णता से नहीं। भारतीय संस्कृति के गौरव श्री अरविन्द का साहित्य, सरस्वती का अमर श्रृंगार है। उसमें अमूल्य विचारदर्शन है, अमूल्य भावसामग्री है, अमूल्य आध्यात्मिक मार्गदर्शन है जो सामान्यतया हर मानव और विशेषतः हर भारतीय के लिए एक वरदान से कम नहीं है।